अध्याय - 3

वर्ण और आश्रम-व्यवस्था तथा न्याय-प्रशासन

विषय-प्रवेश

आज के आधुनिक युग में राजनैतिक रूप से सुगठित किसी समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य न्याय-व्यवस्था और समाज के कल्याण को सुनिश्चित करना है। प्राचीन भारतीय विधि-शास्त्र में भी वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक न्याय का अनुचिन्तन किया गया था। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वर्णाश्रम धर्म की इस प्राचीन भारतीय संकल्पना का आज के आधुनिक युग में प्रचलित जाति-व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं था, जो कि राष्ट्रीय एकता, अखण्डता और सामाजिक समरसता का विध्वंसक है। सन् 1906 ई0 में जब **एम0 ब्लूमफील्ड** ने यह लिखा था कि "जाति-प्रथा सम्पूर्ण भारत में काले बादल की तरह मँडराया करती है", तब उसने यह ठीक ही अनुचिन्तित किया था कि "इस व्यवस्था की विसंगतियों और कटु अत्याचार ने हिन्दुओं को एक दूसरे से काफी दूर कर दिया है। इस अकेली संस्था के संक्षारक गुणों ने भारत को एक राष्ट्र के रूप में विकसित होने से रोक दिया है। इस जाति-व्यवस्था ने लगभग तीस करोड़[1] की आबादी वाले इस राष्ट्र के परिदृश्य को साठ हजार सैनिक और उतने ही गैर-सैनिक विदेशियों के चातुर्य से शासित होना अनिवार्य बना दिया है।"[2]

जाति-व्यवस्था के कुप्रभावों से सम्बन्धित **एम0 ब्लूमफील्ड** की यह टिप्पणी आज भी उतनी ही सच है, जितनी वह सन् 1906 में थी। **ब्लूमफील्ड** की यह टिप्पणी उस समय प्रचलित जाति-व्यवस्था पर की गई थी, न कि भारतीय समाज की अव्यवस्था अथवा अस्तव्यस्तता पर। परन्तु जाति-व्यवस्था (कास्ट-सिस्टम) से सम्बन्धित उनका जो विचार था, वह वस्तुतः वर्णाश्रम की उस योजना से सम्बन्धित नहीं था, जो कि प्राचीन भारतीय विधि-संहिताओं में उपबन्धित था। जाति-व्यवस्था, जो

Scanned with CamScanner

अन्तर्निमेयतः कई बार वर्णाश्रम धर्म के लिये प्रयुक्त होती है, वर्णाश्रम-व्यवस्था का विकृत रूप है और भारत के सामाजिक दर्शन के मस्तक पर एक घृणास्पद कलंक है। वास्तविकतः इतिहास में ऐसे कुछ निहित स्वार्थ विकसित हो चले थे, जो अब भी कार्यरत हैं, जिन्होंने अपने स्वयं के स्वार्थी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वर्णाश्रम की दार्शनिकता को अत्यन्त अपमानजनक जाति-व्यवस्था में बदल दिया। आज की वर्तमान जाति-प्रणाली, जैसा कि वह **ब्लूमफील्ड** द्वारा समझी गई है, कहीं भी अत्यन्त अनोखे वर्णाश्रम-दर्शन के समीप नहीं है।

अतः जब भी कभी **जाति** शब्द का प्रयोग वर्णाश्रम-पद्धति के अर्थबोध में प्रयुक्त होता है, तब उसे कभी भी गर्हित नहीं समझना चाहिये, क्योंकि **स्वामी विवेकानन्द** का अभिमत है कि "वास्तविक रूप से **जाति** शब्द का तात्पर्य वह नहीं है, जो कि हजारों हजार लोग समझते हैं। विश्व में कोई भी ऐसा देश नहीं है, जहाँ जाति न हो। भारत में "**जाति**" शब्द से हम उस बिन्दु पर पहुँच जाते हैं, जहाँ कोई भी जाति नहीं है। जाति का सम्पूर्ण आधार यही सिद्धान्त है। भारत की योजना प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मण बनाने की रही है, क्योंकि ब्राह्मण ही मानवता का आदर्श रहा है। प्रयत्न सदैव यही किया गया है कि निम्नतर वर्गों को ऊपर उठाया जाय। ऐसे बहुत से वर्ग हैं, जिन्हें ऊपर उठाया गया है। शेष सभी को तब तक ऊपर उठाना जारी रखा जायेगा, जब तक सभी लोग ब्राह्मण न बन जायें। यही योजना है। किसी व्यक्ति को नीचे गिराये बिना हमें सभी को केवल ऊपर उठाना है।"[3] यहाँ **स्वामी विवेकानन्द** ने "जाति" शब्द का प्रयोग वर्णाश्रम के अर्थबोध में किया है। परन्तु उन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्था में अन्तर्निहित दार्शनिकता पर बल दिया है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की योजना में जनता को एक दूसरे से अलग नहीं करना है, अपितु उसका लक्ष्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति को एक उचित स्थान प्रदान करना है और उसके लिये वह कार्य निश्चित करना है, जिसके लिये वह अर्हित है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की योजना में किया गया वर्गीकरण तर्कशील, बौद्धिक और व्यवहार्य था। यह योजना समाज के प्रत्येक सदस्य से यह

Scanned with CamScanner

अपेक्षा करती थी कि वह अपनी योग्यता के अनुसार सामाजिक व्यवस्था और उसकी पद्धति के अनुरूप अपने को समायोजित करे और असम्यक् रूप से किसी संघर्ष या मतभेद को उत्पन्न किये बिना समाज की अच्छाई के लिये अपना योगदान करे।[4]

''वर्ण'' और ''आश्रम'' की संकल्पना

प्राचीन भारतीय समाजशास्त्रीय इतिहास में **वर्णाश्रम** पद का विशेष महत्त्व है। **वर्ण** शब्द का तात्पर्य ''विवरण'' है और **आश्रम** शब्द का तात्पर्य ''चरणों'' या ''अवस्थाओं'' (स्टेजेज) से है। प्राचीन भारतीय दर्शन के अनुसार जीवन के चार चरण हैं, (1) **ब्रह्मचर्य**, जो शिक्षा-प्राप्ति का आयु-वर्ग है; (2) **गृहस्थ,** जो घर-गृहस्थी संभालने का आयु-वर्ग है; (3) **वानप्रस्थ,** जो घर-गृहस्थी के कार्य से निवृत्त हो जाने के बाद का आयु-वर्ग है और जिसमें व्यक्ति अपने जीवन के चतुर्थ चरण की तैयारी करता है; और (4) **संन्यास,** जो विराग अथवा विरक्ति (रिननशियेशन) का आयु-वर्ग है। जब मनुष्य इस चतुर्थ चरण में प्रवेश करता है, तब वह सम्पूर्ण विश्व का हो जाता है। यह वह आयु-वर्ग है, जब मनुष्य समाज की अच्छाई के लिये कुछ कर सकता है और यदि वह ऐसा करता है, तो इससे उसका आध्यात्मिक उत्थान होता है।[5]

भारतीय विद्याशास्त्र के महान विद्वान महामहोपाध्याय **पी0वी0 काणे** का अभिमत है कि भारत में जाति-व्यवस्था के उद्भव और उसके विशेष लक्षणों से सम्बन्धित कृतियों की संख्या प्रभूत है और उन्होंने स्वयं भी जातियों से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियों की सूची प्रस्तुत की है।[6] ऐसे विद्वानों की भी कमी नहीं है, जो जाति-व्यवस्था को हितकारी और वैज्ञानिक मानते हैं। ऐसे भी विद्वान हैं, जिन्होंने जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित अपने विवेचन कार्य को केवल उसके दोषों तक और उसके द्वारा भारतीय समाज तथा राजनैतिक व्यवस्था को पहुँचाई गई क्षतियों तक सीमित रखा है।[7]

यद्यपि ईश्वर द्वारा सृष्ट प्रत्येक स्त्री और पुरुष, चाहे वे धार्मिक हों, अथवा अधार्मिक; चाहे वे आस्तिक हों या नास्तिक; चाहे वे उच्च वर्ग में पैदा हुये हों या

Scanned with CamScanner

निम्न वर्ग में; चाहे वे **क** नामक धर्म से सम्बन्धित हों या **ख** नामक धर्म से, जैवकीय विचारधारा से एक समान हैं और सभी में एक ही रक्त-शुद्धता विद्यमान है। परन्तु हिन्दू समाज में वे एक बड़ी संख्या में विभिन्न वर्गों और उपवर्गों में जातियों और उपजातियों के रूप में विभाजित हैं। किसी भी हिन्दू परिवार में जिस क्षण कोई शिशु अपनी माँ के गर्भ से बाहर आ जाता है और अपने प्रारंभिक जीवन की प्रथम साँस लेता है और कभी-कभी तो कमलनाल के कटने के पूर्व ही वह शुद्ध और सरल शिशु अपने माता-पिता की जाति के अनुसार दाहाँकित और कलंकित कर दिया जाता है और एक भिन्न मृगपथ पर चलने के लिये छोड़ दिया जाता है, इस तथ्य के बावजूद कि उस शिशु का जन्म उस मृगपथ पर उसकी रुचि के अनुसार नहीं, अपितु संयोग से हो गया है।[8]

ईश्वर के साम्राज्य में, जिसने सभी जीवों की सृष्टि की है, असमानता की संकल्पना अज्ञात है, परन्तु सृष्टिकर्त्ता की सृष्टि ने ही स्वार्थमयी प्रयोजनों और निहित स्वार्थ के कारण जातिवाद के नाम पर बनावटी असमानता सृष्ट कर दी है। **स्वामी विवेकानन्द** ने **मद्रास** में दिनांक 24.01.1894 ई0 को अपने एक शिष्य को लिखे गये पत्र में यह मत व्यक्त किया था कि "चाहे जाति हो या पंथ हो, अथवा वर्ग या जाति या राष्ट्र या संस्था चाहे जो हो, यदि वह स्वतंत्र विचार शक्ति और व्यक्ति के कर्म पर रोक लगाती है, तो वह शैतानियत से परिपूर्ण है और उसे समाप्त हो जाना चाहिये।"[9] इसी प्रकार, **न्यू टेस्टामेण्ट** के एक **बाइबिल** पाठ में यह कहा गया है कि "**वह** (महान ईश्वर) किसी को अपने पास आने से रोकता नहीं, चाहे वह काला हो अथवा गोरा।" पवित्र **कुरान** के सुरा 10 पाठ 44 में यह कहा गया है कि "वस्तुतः ईश्वर किसी भी व्यक्ति से अनुचित व्यवहार नहीं करता, चाहे वह कैसा ही क्यों न हो।"[10]

हिन्दू, जो भारत की आबादी में बहुसंख्यक हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में विभाजित हैं। इन चारों वर्णों की उत्पत्ति दैवीमानी गई है और

Scanned with CamScanner

उनसे सम्बन्धित न्याय-व्यवस्था भी दैवी ही है, जिसे वर्णाश्रम धर्म कहा गया है। इन चार वर्णों के अतिरिक्त एक पंचम वर्ण भी मान्य किया गया है, जिसे **अवर्ण** नाम प्रदान किया गया है। चार वर्णों के क्रम में शूद्र को सबसे निम्न स्तर प्रदान किया गया है। इस व्यवस्था ने न केवल जाति और लिंग के आधार पर भेदभाव, पक्षपात, अन्याय और असमानता के अनन्य रूप सृष्ट कर दिये हैं, अपितु समाज को इसने विशेषाधिकारयुक्त और अयोग्य, सम्मानित और अवमानित वर्गों में विभाजित कर दिया है। **स्वामी विवेकानन्द** के शब्दों में "जातिवाद की शाश्वतता ने युगों के सामाजिक अत्याचारों को निरन्तर बनाये रखा है।" जातिवादी व्यवस्था को भारत में कई तरह से धार्मिक रूप से परिरक्षित रखा गया है और ऐसा न्यायिक आदेशों द्वारा भी किया गया है, जो कि पारम्परिक हिन्दू न्याय-व्यवस्था के अनुसार उद्घोषित किया गया है।[11]

जाति-व्यवस्था के कारण और वर्णाश्रम धर्म के आधार पर व्यक्ति और व्यक्ति के बीच हिन्दू समाज में प्रचलित असमानता के परिणामस्वरूप भारत की इस धरती पर जैन और बौद्ध जैसे नूतन सम्प्रदायों का भी जन्म हुआ है और संपूर्ण हिन्दू समाज निरन्तर विभाजित होता चला जा रहा है। इस प्रकार, जाति-व्यवस्था के उद्गम की तुलना नाभिकीय ऊर्जा (न्युक्लियर इनर्जी) के अनुसंधान से की जा सकती है। इसके गुण और दोष इस बात पर निर्भर करते हैं कि उस युक्ति का उपयोग किस प्रकार किया जा रहा है। यहाँ हमारा सम्बन्ध **वर्ण** और **आश्रम** सिद्धान्त के विवेचन से है और इस सम्बन्ध में कभी भी दो राय नहीं हो सकती है कि इन सिद्धान्तों का दुरुपयोग किया गया है और जाति-व्यवस्था ने तो व्यवहारिक रूप से प्राचीन भारतीय इतिहास और दर्शन के इन सुप्रकाशित सिद्धान्तों पर धब्बा ही लगाया गया है। इन सिद्धान्तों पर चर्चा का उद्देश्य यह भी है कि क्या वे आज के संदर्भ में भी समाज की कुछ सेवा कर सकते हैं।[12]

किसी वाद-विवाद में पड़े बिना यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि वैदिक साहित्य में **वर्ण** शब्द का तात्पर्य रंग (कलर) न होकर **विवरण** अथवा **वर्णन** है।

Scanned with CamScanner

इसका कारण बहुत सरल और स्पष्ट है और वह यह है कि जिन स्तुतियों में **वर्ण** शब्द उल्लिखित है, उसका निर्वचन **वर्णन** और **रंग** दोनों के अर्थबोध में किया जा सकता है। बाद के साहित्य में ऐसे अनगिनत दृष्टान्त हैं, जहाँ **वर्ण** शब्द का आत्यन्तिक प्रयोग **वर्णन** के भावबोध में किया गया है और जिसका तात्पर्य **जाति** से है।

''वर्ण'' और 'जाति''

वास्तविक रूप से **वर्ण** मूल है और **जाति** उसकी शाखा है। प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सम्पूर्ण समाज कर्म के आधार पर चार वर्गों में विभाजित हो गया था। स्मृतिकारों ने विभिन्न विभाजित वर्गों को चार वर्णों में समायोजित करने का प्रयत्न किया था। **ऋग्वेद** के समय तक ये चार वर्ण अच्छी तरह स्थापित हो चुके थे। **ऋग्वेद** के पुरुषसूक्त में चार वर्णों के प्रारम्भ की बात कही गई है। ब्राह्मण पुरुष (ब्रह्मा) के मुख से; राजन्य (क्षत्रिय) भुजाओं से; वैश्य उरू से तथा शूद्र चरण से उत्पन्न हुआ है।[13]

मनुस्मृति में ऋग्वेद के पुरुषसूक्त का अनुकरण करते हुये यह कहा गया है कि ब्रह्मा ने संसार के विकास के लिये मुख, बाहु, उरु और चरण से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उत्पन्न किया है।[14] ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद और मनुस्मृति में वर्णों की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त बहुत कुछ प्रतीकात्मक है और उसकी मान्यता और प्रवर्तनीयता हेतु दैवी उत्पत्ति की अनुशास्ति सम्बद्ध कर दी गई है। ऐसा भी संभव हो सकता है कि प्राचीन भारतीय व्यवस्थापकों ने सम्पूर्ण समाज को मनुष्य के शरीर के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया हो और उस समाज में ब्राह्मणों अर्थात् विद्वानों को शरीर के सर्वोपरि अंग अर्थात् मुख और शूद्रों को भी अनुक्रम प्रदान किया गया हो। जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर की रक्षक भुजायें हैं, उसी प्रकार, क्षत्रिय वर्ण संपूर्ण समाज का रक्षक है। उरु सम्पूर्ण शरीर का आधार और पोषक है, अतः वैश्य अपने कृषिकर्म, गोपालन, व्यापार और विपणन-कार्य के कारण संपूर्ण समाज का

Scanned with CamScanner

आधार और पोषक है और शरीर का **पद,** वह तो सम्पूर्ण शरीर का वहन करता है, अतः सामाजिक व्यवस्था में उसका स्थान शूद्र को दे दिया गया। यहाँ यह कदापि भूल नहीं करनी चाहिये कि यह व्यवस्था उस समाज की है, जो पूर्णरुपेण विकसित नहीं हो सकी थी, परन्तु जिसमें मनुष्य की क्षमता और योग्यता ही उसके लिये समाज में "हैसियत" निर्धारण का कार्य करती थी। संभवतः इसीलिये भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में अर्जुन से यह कहा था कि गुण और कार्यों के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चारों वर्णों की रचना मैंने ही की है।[15] फिर भी, जिस प्रकार, शरीर के प्रत्येक अंग एक ही ईकाई के विभिन्न घटक हैं और हर एक का अपना महत्त्व है, किसी एक के अभाव में अन्य का अस्तित्त्व असंभव है, उसी प्रकार, प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समाज रूपी एक शरीर के विविध अंग या घटक बनकर कार्य करते थे और समाज के लिये सबका अपना-अपना महत्त्व और अपनी-अपनी उपयोगिता थी।[16]

यह सिद्धान्त कि **वर्ण** का तात्पर्य **रंग** (कलर) है, स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वैदिक देवताओं का भी चार वर्णों में किया गया वर्गीकरण विचार के किसी भी प्रसार के अंतर्गत यह नहीं कहा जा सकता कि वह **रंग** पर आधारित है। वेद की पंक्तियों में उन देवताओं का उल्लेख है, जो कि परमात्मा द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की प्रकृति के अनुसार वर्गीकृत किये गये हैं। इस प्रकार देवताओं को भी चार वर्णों में वर्गीकृत किया गया है, यथा अग्नि और बृहस्पति को देवताओं में ब्राह्मण कहा गया है। इन्द्र, वरुण, सोम और यम को क्षत्रिय वर्ण में रखा गया है, वसुओं,[17] रुद्रों, विश्वदेवाओं[18] और मरुतों को वैश्य तथा पुसन को शूद्र वर्ण में रखा गया है।[19]

धर्मग्रन्थों में **वर्ण** को इस प्रकार संसार में सम्यक् कृत्यों के निष्पादन हेतु किया गया सामाजिक वर्गीकरण कहा जा सकता है। स्वयं ब्रह्मा भी, चूँकि, सारे कृत्य स्वयं नहीं कर सकते, इसलिये उन्होंने देवताओं में कृत्यों का विभाजन करने के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को सृष्ट किया है।[20]

Scanned with CamScanner

''जाति-उत्कर्ष'' और ''जाति-अपकर्ष'' के उदाहरण यह इंगित करते हैं कि प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में किसी व्यक्ति के **वर्ण** को निर्णीत करने में जन्म-हेतुक का कड़ाई से पालन नहीं किया जाता था। **याज्ञवल्क्य** ने यह उल्लिखित किया है कि जाति-उत्कर्ष और जाति-अपकर्ष का आधार केवल जन्म नहीं, अपितु ''उद्यम'' और ''वृत्ति'' है।[21] **मनुस्मृति** में सामान्य रूप से अहिंसा,सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्रता और इन्द्रियों का निग्रह चारों वर्णों का धर्म बतलाया गया है और यह कहा गया है कि ब्राह्मण से शूद्र में उत्पन्न कन्या यदि ब्राह्मण के साथ ब्याही जाय और आगे भी यही क्रम रहे, तो अपनी सातवीं पीढ़ी में अपनी नीच योनि से उद्धार पाकर उसकी सन्तान ब्राह्मण हो जाती है। शूद्र ब्राह्मणत्व को और ब्राह्मण शूद्रत्त्व को प्राप्त होता है। इसी प्रकार, क्षत्रिय और वैश्य से उत्पन्न शूद्र भी क्षत्रियत्त्व और वैश्यत्त्व को प्राप्त होता है।[22] इस प्रकार, कोई व्यक्ति, जो ऐसे माता-पिता से उत्पन्न हुआ है, जिसकी वृत्ति ब्राह्मण की है, यदि किसी अन्य वर्ण की वृत्ति को हाथ में लेता है, तो उस व्यक्ति के वर्ण अथवा जाति में तदनुरूप परिवर्तन होगा। धर्मशास्त्र में यह व्यवस्था की गई है कि यदि कोई व्यक्ति उस वृत्ति को हाथ में नहीं लेता या उसमें वह नहीं रहता, जो कि उसके वर्ण से सम्बन्धित है, तो ऐसा व्यक्ति केवल जन्म के कारण उस **वर्ण** का व्यक्ति नहीं बना रह सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि **पातञ्जलि** ऋषि के समय तक ब्राह्मण ऐसी आजीविका को अपनाने लगे थे, जो कि उनके वर्ण से सम्बन्धित नहीं था। **पातञ्जलि** का मानना है कि ऐसा व्यक्ति वास्तविक ब्राह्मण नहीं है, क्योंकि किसी व्यक्ति को तीन कारणों से ब्राह्मण कहा जा सकता है, यथा-तपस, वैदिक अध्ययन और जन्म। वह व्यक्ति, जिसमें न तो तपस है और न ही वैदिक अध्ययन, जन्म से तो ब्राह्मण है, परन्तु वह वास्तविक ब्राह्मण नहीं है।[23] आर्य, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, जो द्विज हैं, और अनार्य, अर्थात् शूद्र, जो द्विज नहीं हैं, के बीच सामान्यतया कोई भेदभाव नहीं है। **मनुस्मृति** में स्वयं ब्रह्मा के मुख से यह कहलाया गया है कि ये दोनों न समान हैं और न असमान।[24] दोनों इसलिये ''समान'' नहीं हैं, क्योंकि दोनों ''योग्यता'' और ''क्षमता'' के क्षेत्र में **असमान** हैं,

Scanned with CamScanner

और दोनों इसलिये ''असमान'' नहीं हैं, क्योंकि दोनों स्वयं ईश्वर की सृष्टि हैं और भौतिक सुख-सुविधाओं और मानवीय व्यवहारों के संदर्भ में दोनों समान हैं, जिसका तात्पर्य है, दोनों समान व्यवहार के अधिकारी हैं।

समाज का इस तरह किया गया व्यापक विभाजन ''आजीविका'' (अकूपेशन) के सिद्धान्त पर आधारित है। जनता द्वारा अपनाई गयी विभिन्न आजीविकाओं के अनुसार ''वर्णों'' का पुनः जातियों और उपजातियों में विभाजन हो गया था। परन्तु एक बात तो निश्चित ही है कि वर्ण-व्यवस्था की तरह जाति-व्यवस्था भी समाज को उसके सदस्यों द्वारा अपनाई गयी वृत्तियों के अनुसार विभिन्न खण्डों में वर्गित करने की एक युक्ति थी। वर्ण-व्यवस्था को जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत विभाजित करने का मुख्य कारण यद्यपि वृत्ति (प्रोफेसन) थी, परन्तु वह एक कारण नहीं था। ''जाति-व्यवस्था'' के प्रचलन का एक अन्य कारण ''असाधारण समागम'' भी था। डॉक्टर **पी0वी0 काणे** ने यह दृष्टिकोण व्यक्त किया है कि ''यह कहना संभव लगता है कि ''संहिताओं'' और ''ब्राह्मणों'' के समय तक आजीविका पर आधारित व्यक्तियों के ऐसे समूह विद्यमान होने लगे थे, जो जाति बन गये थे या जाति में विकसित होने की प्रक्रिया में लगे हुये थे।''[25]

परन्तु ऐसे कुछ अन्य भी हेतुक थे, जैसे कि जन्म या निवास का स्थान, मूलवंश आदि, जिन्होंने जनवर्ग को जातियों और उपजातियों में विभाजित कर दिया था। **डॉ0 पी0वी0 काणे** का अभिमत है कि अम्बष्ट, मागध, मल्ल और वैदेहक जैसी जातियाँ, जिनका उल्लेख स्मृतियों में है, अपने जन्म के देश से सम्बन्धित होने के कारण उस नाम से जानी गई, जैसे अम्बा, मगध, विदेह आदि और इनके नाम पर उससे सम्बन्धित लोग आम्बष्ट, मागध, वैदेहक आदि कहलाये। कुछ लोग अपने मूलवंश के आधार पर उसी नाम की जाति के रूप में जाने गये, जैसे आभीर, किरात् और शक्।[26]

Scanned with CamScanner

मनुस्मृति और महाभारत के अनुशासन पर्व में कुछ ऐसी पंक्तियाँ हैं, जो यह इंगित करती हैं कि कुछ विदेशी मूलवंश के लोग मूलतः क्षत्रिय थे, परन्तु ब्राह्मणों से सम्पर्क छूट जाने क कारण वे शूद्र की स्थिति में आ गये। पौंड्रक, औड्र, द्रविण, काम्बोज, यवन, शक, पारद, यह्ण्व, चीन, किरात, दरद और खश ऐसे ही लोग थे।[27] महामहोपाध्याय **पी0वी0 काणे** की पुस्तक में "वर्ण" और "जाति" विषय पर व्यापक और पर्याप्त रोशनी डाली गई है।[28] महाभारत में इस पाठ की विद्यमानता के बावजूद भी कि कोई व्यक्ति जन्म से ही ब्राह्मण होता है, ऐसी अनेकों पंक्तियाँ हैं, जिसमें जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था का विरोध किया गया है।[29]

आज के आधुनिक युग में प्रत्येक मुख्य "वर्ण" विभिन्न उपजातियों में विभाजित हो गया है, जो कि देश, आजीविका, समाज में स्थान और अन्य कारणों पर आधारित है। **डॉ0 पी0वी0 काणे** ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार **ब्राह्मणों** ने इन आधारों पर अपने को विभाजित कर लिया है। "ब्राह्मण वर्ण के लोग प्रथमतः दस वर्गों में विभाजित हो गये, जिसमें से पाँच तो गौण कहलाये और पाँच द्रविण कहलाये।"[30] अन्य वर्णों में भी इन्हीं कारणों से खण्ड और उपखण्ड बनते गये, जिसके परिणामस्वरूप जातियों और उपजातियों की एक जटिल व्यवस्था हमारे सामने उभरकर आ गई। प्रारम्भ में तो यह वर्गीकरण तर्कशील, बौद्धिक और नम्य थी, परन्तु धीरे-धीरे उनमें अनम्यता अपनी धर-पकड़ मजबूत करती गई और जातियाँ सामाजिक संगठन की स्थायी ईकाई बन गईं। ऐसी प्रत्येक ईकाई यह भूल गई कि वह सम्पूर्ण समाज का एक अंग है और वह अपने को समाज से अलग सोचने लगीं, जिसके परिणामस्वरूप इन जातियों में सर्वोच्च अथवा हीन भावना का भी संचार होने लगा। इस प्रवृत्ति ने समाज में तनावों को जन्म दिया, जो अन्ततः सामाजिक व्यवस्था का अपक्षरण करने लगा और देश कई राज्यों में विभाजित हो गया और विदेशी शासन के अधीन भी आ गया। इस प्रकार, जाति-व्यवस्था भारत के सामाजिक दर्शन और इतिहास में एक काला धब्बा बन गई। प्रारम्भ में तो यह व्यवस्था समाज की सहायता करने की युक्ति के रूप में एक उदाहरण के तौर पर प्रयुक्त की गई थी,

Scanned with CamScanner

परन्तु इस व्यवस्था का दुरुपयोग होने से यह स्वयं समाज के प्रति घातक हो गई और जाति समाज के विखण्डन का उपकरण बन गई। इस व्यवस्था की विफलता के सरल कारणों का अनुचिन्तन कठिन नहीं है। यह व्यक्तियों का घोर स्वार्थ था, जिसने उन्हें अपने स्वार्थी हित के बाहर निकलकर सोचने से निवारित कर दिया था। कोई भी स्वस्थचित्त व्यक्ति वर्तमान की जीर्ण-शीर्ण जाति-व्यवस्था के समर्थन को सहारा नहीं देना चाहेगा। आवश्यकता यह है कि वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक वर्गीकरण में निहित दर्शन और उसके औचित्य को पुनर्जीवित किया जाय और उसको समझा जाय। प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत सहयोग और श्रम-विभाजन के माध्यम से समाज को एक में बाँधे रखने के एक आन्दोलन के परिणामस्वरूप प्राचीन भारतीय समाज एक सशक्त समाज बन गया था, जो उस काल के दर्शन और साहित्य से प्रत्यक्ष है। इसी व्यवस्था के परिणामस्वरूप प्राचीन भारतीय समाज प्रचुर धन-धान्य से परिपूर्ण हो गया था, जिससे इस राष्ट्र को ''स्वर्ण-पक्षी'' कहा जाने लगा था।[31]

इस प्रकार, यह प्रकट है कि **वर्ण** और **जाति** की संस्था के माध्यम से प्राचीन भारतीय समुदाय ने सामाजिक कल्याण और सौहार्द्र की भावना को कार्यरूप प्रदान करने का उपक्रम किया था। तथापि, बहुत बाद में और विशेषकर तब, जब विदेशी आक्रमण होने लगे थे, **वर्ण** और **जाति** की संस्थायें बुरे हाथों में पड़ गईं और उनके द्वारा उन संस्थाओं का उनकी स्वार्थपूर्ति के लिये शोषण किया जाने लगा। परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विश्व के प्रत्येक देश में समाज का कार्य के आधार पर वर्गीकरण किया गया है। **एम0वी0 पटवर्धन** के इस कथन में सत्यता है कि ''**ब्राह्मण** बौद्धिक ईकाई का प्रतिनिधित्व करता है, **वैश्य** कार्य-व्यापार की ईकाई का, **क्षत्रिय** शक्ति और बल की ईकाई का और **शूद्र** उदासीन भाव से कार्यों का निष्पादन करने वाली ईकाई का प्रतिनिधित्व करता है। इन सभी ईकाईयों को किसी भी कार्यरत सामाजिक ईकाई में विद्यमान रहना है, चाहे वह ईकाई कितनी ही छोटी अथवा बड़ी क्यों न हो। यह वर्गीकरण स्वतः चालित है और यह प्रकृति की

Scanned with CamScanner

न्याय-व्यवस्था के अनुरूप है। चाहे भले ही हमारी इच्छा इसके विरुद्ध हो, परन्तु, फिर भी, यह परिचालन में विद्यमान रहती है।[32]

"वर्ण-व्यवस्था" का यह स्पष्टीकरण समाज की किसी भी ईकाई के विरुद्ध नहीं है और यह स्पष्टीकरण यह भी पुष्ट करता है कि समाज की कोई भी ईकाई न तो किसी से बड़ी है और न ही छोटी। प्रत्येक ईकाई एक दूसरे की पूरक है और उन्हें एक दूसरे के सहयोग में कार्य करते हुये जनसामान्य के कल्याण के लिये कार्य करना है।

आश्रम-व्यवस्था

प्राचीन भारतीय विधि-संहिताओं के अनुसार **आश्रम** का तात्पर्य जीवन की उन चार अवस्थाओं से है, जो वर्ण-व्यवस्था की तरह ही स्वाभाविक है। जीवन का प्रथम चरण ज्ञान या शिक्षा-प्राप्ति की अवस्था होती थी, जो **ब्रह्मचर्याश्रम** के नाम से ज्ञात थी। इस **अवस्था** या **आश्रम** में रहकर व्यक्ति को उसकी मानसिक और शारीरिक क्षमता के अनुसार समाज में भविष्य में काम करने के लिये प्रशिक्षित किया जाता था। मनुस्मृति के अध्याय-2 में ब्रह्मचर्याश्रम से सम्बन्धित आवश्यक बातें उल्लिखित हैं।

जीवन की दूसरी अवस्था **गृहस्थाश्रम** के नाम से ज्ञात थी। यह जीवन का वह चरण होता था, जब व्यक्ति अपने सामर्थ्य के अनुसार वास्तविक रूप से लौकिक कार्यकलापों में व्यस्त हो जाता था। जीवन के इस प्रक्रम पर जन-वर्ग विभिन्न प्रकार की वृत्तियों और आजीविकाओं में अपने को व्यस्त कर देता था। इस अवस्था में आकर व्यक्ति पूर्ण रूप से अपने परिवार के प्रति अपने वृत्तिक कर्त्तव्यों को पूर्ण करने में लग जाता था और समाज भी उससे यह अपेक्षा करने का हकदार हो जाता था कि ब्रह्मचर्याश्रम में उसके द्वारा जो कुछ सुविधायें उसे प्रदान की गई थी, यह उसका अंशदान समाज के प्रति करे। इस अवस्था में आकर व्यक्ति के जैविक संगठन की व्यापक आवश्यकतायें न केवल विनियमित हो जाती थीं, अपितु वे संतुष्ट भी हो जाती

Scanned with CamScanner

थीं और इन सबके परिणामस्वरूप समाज प्रगति और विकास की ओर उन्मुख होने लगता था। मानव मूलवंश की शाश्वतता के लिये गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति पर एक संतान उत्पन्न करने का दायित्त्व डाला गया था। यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित कर दिया गया था कि केवल एक सन्तान की उत्पत्ति ही कर्त्तव्य है, परन्तु उसके बाद की संतानें कामोन्माद (पैसन) का परिणाम मानी जायेंगी।[33] मनुस्मृति में भी स्पष्ट रूप से यह इंगित किया गया है कि जिस पुत्र के जन्म होने से पिता पितृ-ऋण से मुक्त होता है और मोक्ष को प्राप्त होता है, उसे **''धर्म-पुत्र''** और अन्य को **''कामज पुत्र''** कहा जाता है।[34]

इस तरह, जीवन का दूसरा चरण उस सामाजिक जीवन को समृद्ध बनाने तथा समुचित रीति से सामाजिक वरासत का पोषण और विकास करने की अवस्था होती थी, जिसने उस गृहस्थ को उसके प्रथम आश्रम में सुरक्षा और सुविधा प्रदान की थी। मनुस्मृति के अध्याय-3 और 4 में गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित न्याय-व्यवस्था का व्यापक उल्लेख किया गया है। **गौतम** का अभिमत है कि मनुष्य के जीवन का केवल एक ही आश्रम होता है और वह है, ''गृहस्थाश्रम''।[35] **बौधायन** का भी यही अभिमत है कि मनुष्य के जीवन में केवल एक ही आश्रम है और वह है ''गृहस्थाश्रम'', क्योंकि अन्य आश्रमों में सन्तानों की उत्पत्ति नहीं होती।[36] **मनु** ने अत्यन्त सशक्त शब्दों में गृहस्थाश्रम के महत्त्व का उल्लेख किया है और यह कहा है कि जिस प्रकार वायु के आश्रय से सब प्राणी जीवित रहते हैं, उसी प्रकार, समस्त आश्रम गृहस्थाश्रम के आश्रय से जीवित रहते हैं। अन्य तीनों आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास गृहस्थों के द्वारा नित्य वेदार्थ-ज्ञान की चर्चा और अन्नदान से उपकृत होते हैं। इसी कारण सभी आश्रमों में बड़ा और महत्त्वपूर्ण आश्रम गृहस्थाश्रम ही है।[37]

जीवन का तृतीय चरण **वानप्रस्थ** वह आश्रम होता था, जहाँ व्यक्ति को समाज के व्यापक वर्ग के कल्याण के लिये अपना जीवन प्रारम्भ करना पड़ता था।[38]

Scanned with CamScanner

मान्यता यह थी कि चूँकि व्यक्ति ने परिवार के प्रति अपना ऋण-भार उतार दिया है। अतः उसे अब दूसरे जीवन के लिये अपना मार्ग प्रशस्त करना है। जीवन की यह अवस्था एक ऐसे मनोवैज्ञानिक प्रतिभास जैसी होती थी, जिसे दो जन्मों के बीच की रिक्ति को अगले जन्म के लिये वर्तमान के जीवन से स्वैच्छिक निवृत्ति की व्यवस्था के माध्यम से भरनी थी। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप गृहस्थ विभिन्न प्रकार के प्रलोभनों से बच निकलता था, क्योंकि उसे यह ज्ञात होता था कि वह जो कुछ भी एक गृहस्थ के रूप में कर रहा है, वह एक न्यासी के रूप में उसके कर्त्तव्यों का एक हिस्सा है और उसे दूसरी संतति को अपनी गृहस्थी का भार सौंप देना है, जब वह उस उत्तरदायित्त्व के निर्वहन हेतु योग्य हो जायेगी। जीवन का दूसरा चरण, चूँकि, उच्च जीवन की एक संक्रमण अवस्था मानी जाती थी, इसलिये जीवन का तीसरा चरण अर्थात् **वानप्रस्थ** भी जीवन की चतुर्थ अवस्था अर्थात् **संन्यासाश्रम** में प्रवेश करने की तैयारी की अवस्था के रूप में मान्य थी।[39]

जीवन का चतुर्थ चरण **संन्यासाश्रम** एक ऐसी अवस्था के रूप में मान्य था, जिसके लिये जीवन के प्रथम तीन चरण एक प्रस्तावना मात्र होते थे। मान्यता यह थी कि इस अवस्था में व्यक्ति अपने समस्त अहं का त्याग कर देता है और "स्व" की अनुभूति करता है, जिसका अभिप्राय मतभेदों और विरोधों का लुप्त हो जाना है और जो जीवन का एक ऐसा गंतव्य है, जिसे कोई अकिंचन मानव ही प्राप्त कर सकता है, जबकि बहुत से लोग उसे प्राप्त करने की आकांक्षा करते हैं। यह एक ऐसा आदर्श एक ज्योतिर्मय आदर्श है, जो मानव की समस्त अवस्थाओं को अभिप्रायपूर्ण और अनुकरण योग्य बना देती है। इस आदर्श के अभाव में मानव-जीवन के समस्त प्रभाव और कर्त्तव्य न्यून होकर नृशंस पशु-जीवन सदृश्य बन जाते हैं।[40]

गृहस्थाश्रम का विधिक महत्त्व

प्राचीन भारतीय न्याय-व्यवस्था में चार आश्रमों में से केवल गृहस्थाश्रम ही विधिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण था। अन्य आश्रमों का कोई विशेष सम्बन्ध

Scanned with CamScanner

विधि-व्यवस्था, वादकारिता और न्याय-प्रक्रिया से नहीं था। फिर सभी व्यक्ति वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम धर्म का पालन नहीं करते थे। केवल ऐसे ही व्यक्ति सांसारिक सम्बन्धों का त्याग करके वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम में प्रवेश करते थे, जो अत्यन्त विद्वान होते थे, सशक्त आत्मनियंत्रण रखते थे, और जिनके पुत्र पारिवारिक मामलों के प्रबन्ध के लिये पर्याप्त रूप से परिपक्व हो चुके होते थे। विश्व का त्याग करके वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम में प्रवेश करना आवश्यक भी नहीं था। **कैलव** राज्य के शासन में तो संन्यासाश्रम निषिद्ध कर दिया गया था। अतः आश्रम पद्धति से विधि और न्याय-व्यवस्था के समक्ष कोई विशेष समस्या नहीं उत्पन्न हुई।[41] परन्तु समाज और साम्राज्य को अपना कार्य-व्यापार ठीक से सम्पादित करने के लिये राजा को "वर्णाश्रम-धर्म" की व्यवस्था को लागू करना पड़ता था। मनु, कौटिल्य, नारद और अन्य लोगों ने इस बात पर जोर डाला है। कभी-कभी तो वर्णाश्रम-धर्म का उल्लंघन कठोर दाण्डिक परिणाम उत्पन्न कर देता था। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद किसी कारण से उसका त्याग करके अपने घर वापस आ जाता था, तो उसे अपने जीवन पर्यन्त राजा का दास बनकर रहना पड़ता था और उससे मुक्त होने का उसे अधिकार भी नहीं था।[42]

आज के आधुनिक भारत में अनेकों मठ और धर्मस्व विद्यमान हैं, जिनमें से बहुत से यशस्वी संन्यासियों द्वारा संचालित और प्रबन्धित हैं। इनसे सम्बन्धित बहुत से मामले आज के आधुनिक न्यायालयों में आ रहे हैं और उनसे न्याय-व्यवस्था भी प्रभावित हो रही है। परन्तु प्राचीन भारतीय समाज में संन्यासियों से सम्बन्धित मामले न तो न्याय-व्यवस्था के लिये सिरदर्द थे और न ही वे न्यायालय के समक्ष लाये जाते थे। तथापि, राजा को यह निर्दिष्ट किया गया था कि वह यह देखें कि कोई व्यक्ति वर्णाश्रम-धर्म के नियमों का उल्लंघन न करें।[43]

Scanned with CamScanner

वर्ण-व्यवस्था और समाज-कल्याण

वर्ण-व्यवस्था की संपूर्ण योजना में व्यापक रूप से समाज के कल्याण का आदर्श अनुचिन्तित किया गया था और यही भारतीय संस्कृति का एक सुभिन्न लक्षण है। **स्वामी विवेकानन्द** का यह अभिमत है कि "योरप की जनता का लक्ष्य सबका विनाश करके स्वयं को जीवित रखना है, जबकि आर्यों के जीवन का लक्ष्य सबको उस स्तर तक ऊपर उठाना है, जहाँ व्यक्ति स्वयं पहुँच सका है। इस प्रकार, योरोपीय सभ्यता का साधन तलवार है, जबकि आर्यों की सभ्यता का साधन समुदाय का विभिन्न वर्णों में विभाजन है। विभिन्न वर्णों में विभाजन की यह व्यवस्था सभ्यता की सीढ़ी का पत्थर है, अपनी विद्वता और संस्कृति के अनुपात में अपने को ऊँचे से भी ऊँचे उठाना है। योरप में यह शक्तिशाली विजय के रूप में और कमजोर की मृत्यु के रूप में है। भारत-भूमि के प्रत्येक सामाजिक नियम और उसकी न्याय-व्यवस्था कमजोर को संरक्षण देने के लिये बनाई गयी है।"[44]

स्वामी विवेकानन्द की उपर्युक्त पवित्र अभिव्यक्ति के ठीक विरुद्ध भारतीय उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति **जे0 जीवन रेड्डी** द्वारा व्यक्त की गई अभिव्यक्ति भी यहाँ प्रासंगिक है, जो उन्होंने **इन्द्रा साहनी बनाम भारत संघ**[45] के प्रकरण में न्यायमूर्तिगण **एम0एच0 कानिया** (मुख्य न्यायमूर्ति) और **एम0एन0 वेंकटचेलैया, ए0एम0 अहमदी** की ओर से तथा स्वयं अपने लिये व्यक्त की थी। उनका अभिमत है कि हिन्दू धर्म-व्यवस्था जो कि एक विशाल और व्यापक बहुमत की धर्म-व्यवस्था है, समानता की अपनी विशिष्टि के लिये प्रसिद्ध नहीं है। इसने अनुयायियों को चार पृथक खण्डों में विभाजित कर दिया था। वे लोग, जो इस "चातुर्वण्य-पद्धति" के बाहर रख दिये गये थे, पंचम वर्ण, अर्थात् निम्नतर वर्ण के लोग थे। इस पंचम वर्ण में आने वाले लोग जाति-व्यवस्था के बाहर के लोग थे और उतने ही गंदे थे और बदसूरत थे, जितने कि उनके चेहरे। चतुर्थ वर्ण अर्थात् शूद्र भी अधिक अच्छी दशा में नहीं थे, यद्यपि वे पंचम वर्ण वालों की अपेक्षा अच्छी स्थिति

Scanned with CamScanner

में थे। इतिहास के अनुक्रम में धीरे-धीरे **शूद्रों** और **पंचमों** के यहाँ जन्म लेने मात्र से ही व्यक्ति निम्नतर कोटि का मानव मान लिया गया और उसके कर्म उसकी सामाजिक हैसियत के लिये पर्याप्त नहीं रह गये और जन्म के साथ ही सम्बद्ध हो गई निम्नतम कोटि की हैसियत ऐसे व्यक्तियों के साथ तब तक विद्यमान रहती, जब तक कि उनकी मृत्यु न हो जाती। उन्हें हमेशा छोटा और नीचा माना जाता था तथा जितने भी ओछे, गन्दे और निम्न कर्म थे, उन्हें करने को दिये जाते थे। उनका निम्न कोटि में जन्म लेना उनके पूर्व जन्म के कर्म का परिणाम बतलाया गया था और मानव के रूप में जन्म लेना मात्र उनके लिये ईश्वर की महान अनुकम्पा बतलाई गई थीं।

उच्चतम न्यायालय के एक अन्य न्यायमूर्ति **कुलदीप सिंह** ने **इन्द्रा साहनी** के उपर्युक्त प्रकरण में यह अभिमत व्यक्त किया था कि **ऋग्वेद** के पुरुषसूक्त (10.90) से उत्पन्न और **मानव-धर्मशास्त्र** (मनु की विधि-संहिता) द्वारा समर्थित और प्रक्षिप्त "चातुर्वण्य-पद्धति" और जाति-व्यवस्था ने इस राष्ट्र के लिये सबसे बड़े अभिशाप का कार्य किया है। आर्यों के बीच "चातुर्वण्य-पद्धति" यद्यपि बहुत अधिक एक वृत्तीय-व्यवस्था थी, जिसके पीछे श्रम-विभाजन की योजना कार्य करती थी, परन्तु जिसे ब्राह्मणों ने बाद में पवित्र संस्कार सम्बन्धी एक व्यवस्था बनाकर उसका वृत्तीयकरण कर दिया, समय के साथ-साथ हिन्दू समाज के लिये एक घातक कैन्सर कोष बन गया।[46] न्यायमूर्ति **सावन्त** ने भी इसी प्रकरण में यह अभिमत व्यक्त किया था कि जातिवाद का जो सबसे बड़ा घातक प्रभाव इस देश में पड़ा है, वह यह है कि हमने सदियों तक छोटी जातियों को ज्ञान और शिक्षा के दरवाजे तक पहुँचने से रोक रखा था। यह तो ब्रिटिश-शासन का प्रारम्भ होना था कि शूद्रों और महिलाओं के लिये भी ज्ञान और शिक्षा का द्वार खोल दिया गया।[47] न्यायमूर्ति **कुलदीप सिंह** ने भारतीय जातिवाद के एक अन्य पक्ष को प्रस्तुत करते हुये यह अभिमत व्यक्त किया था कि यह देश एक हजार से भी अधिक वर्षों तक गुलामी की बेड़ियों में बँधा रहा। विदेशी शासक से न लड़ने की हमारी असमर्थता का केवल एक कारण था और वह था भारत

Scanned with CamScanner

का सामाजिक अपकर्ष और इस अपकर्ष का कारण जातिवाद ही था। इस देश पर शासन करने के लिये इस देश के जनवर्ग को आपस में विभाजित कर देना आवश्यक था ही नहीं, क्योंकि जाति-व्यवस्था ने ही विदेशियों को यह संदेश भेज दिया था कि "हम तो स्वयं ही विभाजित हैं, आओ और हम पर शासन करो।"[48]

यह अपेक्षा करना कि सामाजिक कल्याण की संकल्पना का जो आधुनिक अर्थबोध है, वही प्राचीन भारतीय न्याय-व्यवस्था में भी विकसित हो चुकी थी, असहज ही नहीं असंगत भी है। आज के कल्याणकारी राज्य, जिनका संकल्प जनसामान्य की भलाई है, मातृ-सत्ता वाले राज्य (मेटरनल स्टेट) बन गये हैं और समाज-कल्याण की संकल्पना औद्योगिक क्रान्ति की उपोत्पाद है, जिसके परिणामस्वरूप अपने ही कर्मचारियों के शोषण की कारखाना मालिकों की स्वतंत्रता और विशेषाधिकार को कुचल देने के लिये कारखाना अथवा श्रम-विधान बनाये गये हैं। इन विधानों को कारखानों में कार्य करने के लिये नियोजित कर्मचारियों, बच्चों और स्त्रियों की कार्यदशाओं में सुधार लाने का उपबन्ध करने के लिये अधिनियमित किया गया है। इस प्रकार, औद्योगिक क्रान्ति ने "कल्याणकारी राज्य" के सिद्धान्त को रक्त और प्राण प्रदान किया है। यह सन्देह से परे है कि समाज-कल्याण की वह संकल्पना जो कि कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त में आज समाविष्ट है, कभी भी भारतीय न्याय-व्यवस्था का अँग नहीं रही है।

प्राचीन भारतीय विधि-शास्त्र में समाज-कल्याण का तत्त्व धर्म अर्थात् न्याय-व्यवस्था से सम्बन्धित है। अतः धर्म का बहुत प्रारम्भ से ही प्राचीन भारतीय धर्म-ग्रन्थों में सामाजिक सम्बन्ध रहा है। प्राचीन भारतीय विधि-निर्माता और दार्शनिक जिन्होंने विधि-संहिताओं का प्रतिपादन किया था, समाज के सदस्यों के कल्याण के प्रति गंभीर थे। ये दोनों युद्ध धर्म अर्थात न्याय की रक्षा के लिये लड़े गये थे, क्योंकि यदि न्याय का उल्लंघन होता है, तो सम्पूर्ण समाज और सामाजिक व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप जनवर्ग को अनकही आपदायें झेलनी पड़ती हैं। धर्म अर्थात् न्याय-व्यवस्था का लक्ष्य जन वर्ग के दुःख-दर्द और उनकी आपदाओं का निवारण

Scanned with CamScanner

करना है और ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करना है, जिसमें रहकर जनवर्ग अपने जीवन के गन्तव्य पर पहुँच सके और प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्र में यही स्थिति प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रदान की गई है।[49]

डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन का दृष्टिकोण यहाँ प्रासंगिक है, क्योंकि उन्होंने **जाति** शब्द का प्रयोग वर्ण-व्यवस्था के भावबोध में किया है। उनका अभिमत है कि जाति की संस्था हिन्दू-मस्तिष्क की उस विलक्षण, वृहद संयोजन और समन्वय की आत्मा का परिचायक है, जिसके साथ मूल वंशों के सहभाग और संस्कृतियों के सहयोग का विश्वास भी जुड़ा हुआ है। यद्यपि यह असत्यवत् और लोकविषद प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी, जाति-व्यवस्था सहिष्णुता और विश्वास का परिणाम है। विश्व के किसी भी राष्ट्र में भारत जैसी मूलवंशीय समस्या नहीं रही है। मूलवंशीय संविरोधों की समस्याओं के निदान के सम्बन्ध में जो विभिन्न विकल्प हो सकते हैं, वे हैं, उसका उन्मूलन, गौणत्त्व, अभिज्ञान अथवा संगतीकरण। विश्व के इतिहास में प्रायः जाति-व्यवस्था के उन्मूलन का प्रयास किया गया है, जबकि यह असंभव पाया गया है। अतः विश्व के शक्तिशाली मूलवंशों ने जाति-प्रथा को सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत महत्त्वपूर्ण न मानकर उसके गौणत्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। वे इस सिद्धान्त पर कार्य करते हैं कि **गुलाम को छोड़ दो, परन्तु राजद्रोही को नष्ट कर दो।** जाति का मूलवंशीय पक्ष मानक वर्गों की अनन्त विभिन्नता का पुष्टिकरण करता है। हिन्दुत्त्व ने जाति-व्यवस्था के रूप में उन बलों का जवाब दिया था, जो बाहर से उस पर निरन्तर दबाव डाल रहे थे। यह एक ऐसा उपकरण बन गया था, जिसका प्रयोग करके हिन्दुत्त्व ने उन विभिन्न जनजातियों को सभ्य बनाया था, जो उसके साथ मिलजुल गई थी। व्यक्तियों का कोई भी समूह, जो किसी भी रूप में अन्य समूहों से भिन्न दिखता है, जाति है। हिन्दू-समाज ने अपने को कई बार भिन्नित किया है, उतनी बार, जितनी बार कि वह युक्तियुक्त रूप से अपने को भिन्नित कर सकता है। यह अपनी व्यवस्थित जटिलता के लिये सामंजस्य से परिपूर्ण अनेकत्व के लिये और एक

Scanned with CamScanner

से अनेक के लिये प्रसिद्ध है और यही इस सम्पूर्ण जगत की रचना का विचार-सूत्र है।''[50]

प्राचीन भारतीय न्याय-व्यवस्था में समाज-कल्याण की संकल्पना का उद्‌गमन इस तथ्य में निहित था कि उस समय का समाज एक सुव्यवस्थित संघटक था और उसमें प्रत्येक व्यक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। उस समाज में ब्राह्मण वह व्यक्ति होता था, जिसको पूर्ण प्रज्ञावत्ता और आध्यात्मिकता प्राप्त हो। मनुस्मृति और प्राचीन भारतीय विचारधारा के अनुसार समाज-कल्याण के क्षेत्र में समाज का सम्पूर्ण कल्याण सम्मिलित है। इस शब्द का इतना व्यापक अर्थ है कि इसके अन्तर्गत व्यक्ति को न केवल भोजन और आवास प्रदान करने की प्रत्याभूति सम्मिलित है, अपितु उसकी परिधि में प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मणत्त्व प्रदान करने का लक्ष्य भी सम्मिलित है। प्राचीन भारतीय विधिशास्त्र में सर्वत्र ब्राह्मण को ही सर्वोच्च माना गया है, राजा को नहीं। बहुत से राजाओं को ब्राह्मणों के अभिशापों और दण्डों का भाजन बनना पड़ा था। यह किसी विवाद का परिणाम नहीं था कि क्षत्रियों को धरती के शासक का और ब्राह्मणों को धार्मिक और पौरोहितिकी कर्त्तव्यों के निष्पादक का पद आसीन किया गया, अपितु यह सब धार्मिक ग्रन्थों के समादेशों का परिणाम था।[51]

ब्राह्मण को विशेष रूप से इस बात का प्रतिषेध था कि वह भव्य राजसी अधिकारों की आकांक्षा और दावा न करे। राज्य के लौकिक मामलों में उसे राजा के बाद दूसरा स्थान प्रदान किया गया था। सर्वोच्चता क्षत्रियों को ही प्राप्त थी, वह ही सर्वोच्च होता था और राज्य के मुख्य प्रशासक और प्रधान के रूप में मान्य होता था। वृहदारण्यकोपनिषद सन्देह से परे इसी नियम का प्रतिपादन करता है कि ''ब्राह्मण ने क्षत्रिय को परम श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया।''[52] इस उपनिषद में आगे फिर यह कहा गया है कि ''क्षत्रिय से श्रेष्ठ कोई अन्य नहीं है और इसी कारण से ब्राह्मण सिंहासनारुढ़ क्षत्रिय का सम्मान करता है स्वयं राजसूय यज्ञ में राजा से निम्न आसन ग्रहण करता है।''[53] राजा की सर्वोच्चता का यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि राजा को ब्राह्मणों के ऊपर भी विधि-व्यवस्था और न्याय-प्रशासन की शक्ति प्राप्त थी और

Scanned with CamScanner

ऐसा इसलिये किया गया था, क्योंकि वह स्वयं भी धर्म अर्थात् न्याय-व्यवस्था का उल्लंघन न करे। **शंकराचार्य** ने वृहदारण्यकोपनिषद् के उक्त पाठ पर अपनी टीका में यह स्पष्ट किया है कि "चूँकि ब्राह्मण ने क्षत्रिय को परम उत्कर्ष का स्थान प्रदान किया है, अतः क्षत्रिय को छोड़कर किसी अन्य को ब्राह्मण पर नियंत्रण स्थापित करने का अधिकार नहीं है। अतः ब्राह्मण कहता है, राजन्! आप ही ब्रह्म हैं।"[54]

आध्यात्मिक शक्ति के अभिरक्षकों पर लौकिक शक्ति की यह स्पष्ट सर्वोच्चता प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया की एक प्रमुख विशेषता रही है। अतः प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया में 'दो तलवारों के सिद्धान्त' (द टू सोर्ड डॉक्ट्रिन) के उद्गमन के लिये कोई स्थान नहीं था।[55]

परन्तु राजा को कभी भी विधान-निर्माण की शक्ति नहीं प्राप्त थी और समाज-कल्याण के लिये वह कार्य महान तेजस्वी ऋषियों द्वारा सम्पन्न किया जाता था। इस प्रकार, प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया समाजवादी प्रकृति की थी, जिसमें समाज का कल्याण ही श्रेष्ठ था। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने किसी काल्पनिक और अनस्तित्त्व वाली सामाजिक व्यवस्था के लिये कभी भी विधान का निर्माण नहीं किया था। भारतीय ऋषियों द्वारा प्रतिपादित धर्म के नियम आधुनिक भावबोध में विध्यात्मक विधि (पॉजिटिव लॉ) का स्थान ग्रहण करते थे। राजा से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह वर्णाश्रम विधि की न्यायिक प्रक्रिया का अनुगमन करेगा।[56]

समाज-कल्याण की भावना धर्मसूत्रों के कई पाठों में भी समाविष्ट है। इन पाठों में धर्म-कार्य, घर-गृहस्थी से सम्बन्धित कर्त्तव्यों और समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच के पारस्परिक सम्बन्धों से सम्बन्धित प्रारम्भिक नियम समाविष्ट हैं। श्रौत-सूत्र, ग्राह्य सूत्र और धर्म सूत्र उसी तरह के सूत्र हैं। इन सबका अनुचिन्तन "वर्ण" और "आश्रम" के आधार पर किया गया था। चूँकि, प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया का पूरा सम्बन्ध समाज से था, अतः राजा को यह अनुमति नहीं थी कि वह समाज की विद्यमान दशाओं की अवहेलना करे। वास्तविकता तो यह थी कि राजा भी प्रजा की ही

Scanned with CamScanner

तरह न्यायिक प्रक्रिया के नियमों के अधीन था। दोनों की स्थितियों में अन्तर केवल यह था कि राजा पर कतिपय अन्य कर्त्तव्यों, जिम्मेदारियों और आबद्धताओं का अधिरोपण किया गया था। ऐसा इसलिये था, क्योंकि राजा की पहचान उस युग के अनुरूप होती थी, जिसमें वह रहता और कार्य करता था।[57]

समाज-कल्याण का एक अन्य पक्ष 'दान'

प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया में कर्त्तव्यों को अधिक महत्त्व दिया गया था, न कि अधिकारों को और यह स्थिति समाजवादी चिन्तक **डुगिट** की इस भावना के अनुरूप है, जो उन्होंने अपने पूर्ववर्ती विचारक **कॉमते** की इस पंक्ति का बार-बार उल्लेख करते हुये कहा है कि "मनुष्य यदि किसी अधिकार का हकदार है, तो वह यह है कि वह सदैव अपना कर्त्तव्य करता रहे।"[58] प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया का आधार-बिन्दु यह विचारधारा थी कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज के लिये कुछ न कुछ अवश्य ही करना था और समाज में सभी मानव, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी और वृक्ष तथा पौधे भी सम्मिलित थे। इस तरह के कर्त्तव्य में आधुनिक युगीन पर्यावरण संरक्षण की संकल्पना भी सम्मिलित थी।

मनुस्मृति में गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित व्यवस्था में ऋषि, पितर, देवता, जीव-जन्तु और अतिथि के प्रति पंच-यज्ञों की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। इन्हीं पंच यज्ञों से सम्बन्धित कर्त्तव्यों की प्रक्रिया में एक प्रमुख कर्त्तव्य धर्मदान (चैरिटी) भी है।[59] मनुस्मृति में यह भी उल्लिखित है कि सतयुग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में **दान** प्रधान और मुख्य धर्म है।[60] इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य समाज के उत्कर्ष के लिये किया जाता था ताकि समाज का आर्थिक समायोजन और आवश्यक वस्तुओं का पुनर्वितरण समुचित ढंग से होता रहे। अतः इस बात पर कभी भी आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया में समाज का उत्थान बहुत अधिक व्यक्तियों के उत्सर्ग पर ही निर्भर करता था, न कि व्यक्तियों के आमोद-प्रमोद में लिप्त रहने में। विभिन्न व्रतों की

Scanned with CamScanner

संकल्पना के अन्तर्गत राजा का यह कर्त्तव्य था कि वह जनवर्ग की भलाई के लिये कार्य करे और जनता की जाति या उसके वर्ग पर ध्यान न दे। "राजा प्रकृतिरंजनात्।" त्रेता में अयोध्या के राजा भगवान श्री रामचन्द्र ने नगर और देश की जनता की परिनिन्दा सुनकर अपनी प्रिय पत्नी सीता का परित्याग कर दिया था, यद्यपि वे यह जानते थे कि यशस्वी सीता निर्दोष हैं।[61]

प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया में **'ईष्ट'** और **पूर्त** की संकल्पनायें धनिकों से यह अपेक्षा करती थी कि वे यह देखें कि उनके धन का उपयोग समाज के कल्याण के लिये हो। इस प्रकार, न्यास और विश्वास की एक व्यापक संकल्पना उभर कर आती है। **मनु** ने निर्दिष्ट किया था कि **ईष्ट** और **पूर्त** कर्मों को आलस्य के बिना श्रद्धापूर्वक किया जाना चाहिये। न्यायोपार्जित धन से यदि ये दोनों कर्म श्रद्धापूर्वक किये जाते हैं, तो ये दोनों शुभ कर्म उसके कर्त्ता को मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करते हैं।[62] मनुस्मृति में भूखे, प्यासे और अभावग्रस्त व्यक्तियों को अन्न, जल, तिल, दीप, भूमि, चाँदी, वस्त्र, घोड़ा, वृषभ, गाय, रथ, पलंग, घी, सोना, अभय, ज्ञान आदि के दान का उल्लेख किया गया है[63] और इस प्रकार, समाज के प्रत्येक सदस्य को जाति और वर्ण से ऊपर उठकर न्याय, समता, स्वतंत्रता और बन्धुत्त्व प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। धर्म दान की यह व्यापक संकल्पना केवल हिन्दू दर्शन और उससे सम्बन्धित न्यायिक व्यवस्था के अन्तर्गत देखने को मिल सकती है और इस न्यायिक व्यवस्था में **धर्म** तथा **दान** के बीच कोई अन्तर नहीं है, जैसा कि इंगलिश न्याय-व्यवस्था में है।[64]

न्यास और विश्वास की इसी व्यापक संकल्पना को स्वीकार करने के कारण प्राचीन भारतीय इतिहास के **कनिष्क** और **हर्षवर्धन** जैसे सम्राट नियमित अन्तरालों पर जनता के लिये अपना समस्त राजकोष खाली कर देते थे। डॉ0 देवहुती का कथन है कि दान देने का कार्य यद्यपि बौद्धिक परम्परा के अन्तर्गत होता था, परन्तु वह प्रयाग के पवित्र धार्मिक स्थान पर सम्पन्न किया जाता था और दान से लाभान्वित होने

Scanned with CamScanner

वाले व्यक्तियों में सभी जाति और समुदाय के लोग होते थे।[65] राज्य के कल्याणकारी पक्ष का इससे अधिक प्रेरक और निश्चित अर्थ और क्या हो सकता है? भारतीय राजाओं द्वारा प्रस्तुत किये गये उदाहरण का साधारण जनता भी अनुगमन करती थी। हिन्दुओं की सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार सुगठित थी कि समाज कल्याण और सामाजिक न्याय की भावना उस व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम बन गई थी। संयुक्त पारिवारिक जीवन उनके समाज का लघु रूप था। यह सब कुछ आवश्यक रूप से उदारता और गहरी सहानुभूति पर आधारित था। हिन्दू दर्शन और न्याय-व्यवस्था केवल यही शिक्षा देती थी कि "दूसरों के लिये अपना सब कुछ उत्सर्ग पर चढ़ा दो।" परिवार की स्त्रियाँ तब अपने को उपकृत समझती थीं, जब वे साधारण रूप से समाज में अन्यों के लिये तथा विशेष रूप से परिवार में सबके लिये अपना प्राणोत्सर्ग कर देती थी।[66]

भारतीय संस्कृति और समाज की यही विशेषता रही है। ऐसी संस्कृति और समाज में आध्यात्मिक उपलब्धियों ने सदैव लौकिक जीवन के गंतव्य को दिशानिर्देश प्रदान किया है। महात्मा गौतम बुद्ध और अन्य ऋषियों ने आध्यात्मिक लक्ष्य की खोज में सांसारिक सुखों का त्याग कर दिया था। भारतीय संस्कृति जो कुछ भी व्यक्तियों से अपेक्षा करती है, उसका यह सब स्वाभाविक परिणाम था। ईसा से सदियों पूर्व सम्राट अशोक ने एक कल्याणकारी राज्य का अनुचिन्तन और उसका प्रशासन किया था। आज के औद्योगिक जगत में पहली बार राज्य को इस चेतना की अनुभूति हुई है कि सामाजिक विधानों का निर्माण किया जाय। प्राचीन भारतीय ऋषियों, दार्शनिक विधान निर्माताओं ने सामाजिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर समाज द्वारा अनुसरित किये जाने वाले कतिपय प्रमापों और नियमों का निर्धारण किया गया था। ये प्रमाप और नियम व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को विनियमित करते थे, चाहे वह ब्रह्मचर्याश्रम का जीवन हो, अथवा गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ या संन्यासाश्रम का ही जीवन क्यों न हो। प्राचीन भारतीय साहित्य ऐसे निर्देशों और विनियमनों से भरपूर है, जो विधिक और अविधिक विषयों का विनियमन करते हैं। इन विषयों में ऐसे भी विषय सम्मिलित हैं,

Scanned with CamScanner

जिन्हें पश्चिम के विचारकों ने विधि के विकास के लिये आवश्यक ही नहीं समझा था, हाँलाकि आज वे आधुनिक समाजशास्त्र और नृतत्त्व विद्या के क्षेत्र में हुये अन्वेषणों के प्रभाव में आकर उन विषयों पर विचार करना प्रारंभ कर दिये हैं। धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रों ने न केवल हमें प्राचीन भारतीय न्याय-व्यवस्था और न्यायिक प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया है, अपितु अत्यन्त वृहद् और व्यापक रूप से सामाजिक नियमों और न्यायिक प्रक्रिया की संपूर्ण सहिता भी प्रदान की है।

वर्ण-व्यवस्था और न्यायिक-प्रक्रिया

विधि-व्यवस्था का अनुरक्षण और न्याय-प्रशासन राजा का प्रथम कर्त्तव्य है। इस बात पर सभी प्राचीन हिन्दू-विधिशास्त्री सहमत हैं। **अत्रि** का कथन है कि "दुष्टों को दण्ड देना, सज्जनों को सम्मानित करना, न्यायपूर्ण रीति से राजकोष को भरा रखना, वादकारों के साथ निष्पक्ष बर्ताव और साम्राज्य की रक्षा राजाओं के लिये मुख्य यज्ञ-कर्म है।[67] यहाँ **यज्ञ** का तात्पर्य कर्त्तव्य ही है। **मनु** ने कहा है कि व्यावसायिक विषयों के ऊपर विचार करने की इच्छा से राजा को ब्राह्मणों और विचारशील मंत्रियों के साथ विनीत भाव से राजसभा में प्रवेश करना चाहिये। विनीत वेश और अलंकार से युक्त होकर राजा वहाँ बैठकर और फिर खड़े होकर दाहिना हाथ - अपने परिधान से बाहर निकाल काम करने वाले पुरुषों के कार्यों को देखें।[68]

ऐसी ही अभिव्यक्ति वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, शुक्र, विष्णु और नारद की भी है।[69] **मानसोल्लास** में भी यही भावना व्यक्त की गई है।[70] **कौटिल्य** ने राजा के लिये दिन का दूसरा भाग विधि-व्यवस्था और न्याय-प्रशासन के लिये अभिनिर्धारित किया है और यह सिद्धान्त-सूत्र प्रतिपादित किया है कि राजा को सदैव प्रजा के सुख और हित का चिन्तन करना चाहिये। राजा के लिये वह हितकारी नहीं है, जो उसे प्रिय है, अपितु उसके लिये वह हितकारी है, जो उसकी प्रजा को प्रिय है।[71] **याज्ञवल्क्य स्मृति** पर लिखी गई **मिताक्षरा** के व्यवहार अध्याय में, जो विधि-व्यवस्था और न्याय-प्रशासन से सम्बन्धित है, यह उल्लिखित है कि दुष्टों के दमन और दण्ड में ही

Scanned with CamScanner

राजा को न्यायिक प्रक्रिया का सुनिश्चयन करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से प्रजा असामाजिक तत्त्वों से सुरक्षित रहती है।[72] **मेधातिथि** ने न्यायिक प्रक्रिया के क्षेत्र में राजा द्वारा प्रजा की उन कठिनाइयों का दूर किया जाना भी सम्मिलित किया है, जो उनको अपने सामाजिक और आध्यात्मिक कल्याण के क्षेत्र में उठाना पड़ रहा है।[73] स्वयं राजा के सामाजिक और आध्यात्मिक कल्याण के क्षेत्र में भी न्यायिक प्रशासन और न्यायिक प्रक्रिया को अपेक्षित माना गया है।[74] **मनुस्मृति** में राजा के विरुद्ध समादेश जारी किया गया है कि यदि वह धर्म के विरुद्ध किसी व्यक्ति को दण्ड देता है, तो इससे उसका इस संसार में यश और कीर्त्ति का ही नाश नहीं होता, अपितु मरने पर स्वर्ग भी नहीं मिलता। निरपराधी को दण्ड देने से तथा अपराधी को दण्ड न देने से राजा का बड़ा अपयश होता है और मरने पर वह नरक जाता है।[75] यही अभिमत विष्णु स्मृति[76] और वृद्धहरितस्मृति[77] में भी व्यक्त किया गया है।

प्राचीन भारतीय विधिक इतिहास में **नृग** राजा का एक पूर्वोदाहरण मिलता है, जिसमें उसको एक लम्बे समय तक गिरगिट बने रहने का शाप दे दिया गया था, क्योंकि उसने दो ब्राह्मणों के बीच एक गाय के स्वामित्त्व से सम्बन्धित विवाद को कई दिनों से नहीं सुना था और स्वयं भी राजसभा में कई दिनों तक उपस्थित नहीं हुआ था।[78] प्राचीन भारतीय विधिशास्त्र में राजा को दिये गये ये निर्देश कि यदि वह न्यायिक प्रक्रिया का अनुपालन नहीं करता है, तो उसे उसके दुष्परिणामों को भोगना पड़ेगा, यह प्रदर्शित करते हैं कि उस समय के विधान-निर्माता ऋषि न्याय-प्रशासन और न्यायिक प्रक्रिया के प्रति कितने गंभीर थे।

प्राचीन भारतीय हिन्दू विधि-शास्त्र में **धर्म** शब्द का प्रयोग विधि और न्याय के संदर्भ में किया गया है, जबकि इस पद के अनेकानेक अर्थ हैं। इस पद का वास्तविक अर्थ तो उसके उस प्रसंग के संदर्भ में ही जाना जा सकता है, जिसमें उसका प्रयोग किया गया है। धर्म के ही संदर्भ में विधि और न्याय की अपेक्षा की गई है। मनुस्मृति में धर्मज्ञ राजा को निर्दिष्ट किया गया है कि वह जाति-धर्म, देश-धर्म,

Scanned with CamScanner

श्रेणी-धर्म तथा कुल-धर्म की समीक्षा करके उनके अनुकूल अपने धर्म की व्यवस्था करे।[79] यहाँ **धर्मज्ञ** राजा का तात्पर्य वह राजा है, जो धर्म को व्यापक अर्थों में, साथ-ही-साथ उसको न्यायिक-प्रक्रिया के संदर्भ में भी जानता है। इसी प्रकार, **जाति-धर्म** (लॉ ऑफ कास्ट्स) का तात्पर्य जातियों की न्यायिक-प्रक्रिया; **देश-धर्म** (लॉ ऑफ कन्ट्री) का तात्पर्य देश की न्यायिक-प्रक्रिया; **श्रेणी धर्म** (लॉ ऑफ बिजनेस कम्युनिटी) का तात्पर्य श्रेणियों से सम्बन्धित न्यायिक-प्रक्रिया और **कुलधर्म** (लॉ ऑफ फेमिली) का तात्पर्य कुल से सम्बन्धित न्यायिक प्रक्रिया है। धर्मशास्त्रों में ऐसे कितने ही नियम समाविष्ट है, जिनका उल्लंघन न्यायिक प्रक्रिया का उल्लंघन है। इन नियमों का उल्लंघन होने पर केवल प्रायश्चित करने पर दोषी व्यक्ति उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकता था। जब धर्म का उल्लंघन होता है, तब अधर्म अर्थात् अव्यवस्था और अन्याय का जन्म होता है। राजा के दण्ड द्वारा ही अधर्म अर्थात् अव्यवस्था और अन्याय से मुक्ति मिल सकती है। विधिक भावबोध के अन्तर्गत अधर्म ही अपकार था, जो विधिक उत्तरदायित्व को जन्म देता था। अतः धर्म के व्यापक अर्थ में विधि और न्याय तथा न्यायिक प्रक्रिया की भावना सम्मिलित थी और अधर्म की परिधि में अपकार अर्थात् अव्यवस्था और अन्याय समाविष्ट था।[80]

धर्म एक सद्गुण (वर्चू) है और विधि, न्याय और न्यायिक प्रक्रिया का सम्मान और उसका अनुपालन धर्म का सम्मान और अनुपालन है। इसीलिये मनु कहते हैं कि जहाँ धर्म अर्थात् विधि, न्याय और न्यायिक प्रक्रिया का विनाश हो गया है, वहाँ सब कुछ नष्ट हो गया है और जहाँ वह संरक्षित है, वहाँ सब कुछ संरक्षित है। इसलिये "नष्ट हुआ धर्म कहीं हमें नष्ट न कर दे" यह विचार कर धर्म, अर्थात्, विधि, न्याय और न्यायिक प्रक्रिया को नष्ट नहीं करना चाहिये।[81] मनु बार-बार कहते हैं कि धर्म मनुष्यों की कामनाओं को पूरा करता है, इसलिये वह वृष है और जो पुरुष धर्म अर्थात् विधि और न्याय को विनष्ट करता है, वह वृषल अर्थात् धर्महन्ता है। इसलिये धर्म अर्थात् विधि और न्याय का विनाश नहीं करना चाहिये।[82] धर्म एक

Scanned with CamScanner

सार्वभौमिक गुण है, क्योंकि वह मृत्यु के बाद भी साथ देता है।[83] जहाँ विधि और न्याय तथा न्यायिक प्रक्रिया का अन्याय और अव्यवस्था द्वारा विनाश हो रहा हो, वहाँ लोग उस अव्यवस्था और अन्याय से दुखी होते हैं। इसलिये या तो अव्यवस्था और अन्याय का समर्थन नहीं किया जाना चाहिये, अथवा विधि, न्याय और न्यायिक प्रक्रिया का खुलकर समर्थन किया जाना चाहिये।[84]

मनुस्मृति में धर्म को 'नियमों का निकाय' माना गया है और 'न्याय' को धर्म का गन्तव्य माना गया है। मनु का आदेश है कि यथाविधि-संस्कारित क्षत्रिय राजा को न्यायपूर्वक सब संसार की रक्षा करनी चाहिये।[85] परन्तु जिस राजा के पास न कोई मंत्री है, न कोई सेनापति और न ही कोई सहायक या वह मूर्ख, लोभी, शास्त्र-ज्ञानविहीन और विषयासक्त है, वह किसी व्यक्ति को न्याय के अनुसार दण्ड नहीं दे सकता।[86] यहाँ दण्ड देने का तात्पर्य न्यायपूर्ण विनिश्चय द्वारा दिया गया दण्ड है और न्यायपूर्ण विनिश्चय का तात्पर्य वह विनिश्चय है, जो धर्म पर आधारित है और धर्म का तात्पर्य विध्यात्मक विधि (पॉजिटिव ला) है। मनु ने ऋण, धरोहर, विनियोग, साझेदारी, दान दी गई वस्तु को लौटा देना, वेतन, किसी करार का उल्लंघन, क्रय-विक्रय, स्वामी और सेवक, सीमा-विवाद, दण्ड की कठोरता, वचन की कठोरता, चोरी, साहस (उद्दापन), स्त्री-संसर्ग, स्त्री-पुरुष धर्म, धन का विभाजन, जुआ तथा पशु-पक्षी युद्ध जैसे विषयों से सम्बन्धित विवादों को विध्यात्मक विधि के क्षेत्र में रखा है[87] और राजा को निर्दिष्ट किया है कि वह सनातन धर्म का सहारा लेकर उन विवादों को निर्धारित न्यायिक-प्रक्रिया के अनुसार निर्णीत करे।[88] यहाँ सनातन धर्म का तात्पर्य सुस्थापित विधि, न्याय और न्यायिक प्रक्रिया अर्थात् विध्यात्मक विधि (पॉजिटिव ला) है।

धर्मशास्त्रों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग बहुत अधिक लौकिक विधि (सेकुलर लॉ) के संदर्भ में हुआ है। यह बात इस प्रसंग से स्वयं स्पष्ट हो जाती है। एकाग्रचित्त और सुख से बैठे हुए मनु जी के पास जाकर महर्षिगणों ने उनका यथाक्रम पूजन किया और कहा "हे भगवन् ! आप सभी वर्णों और संकीर्ण जातियों के धर्मों के

Scanned with CamScanner

अनुसार जैसी व्यवस्था है, हम लोगों को बतलायें।''[89] इस प्रकार, 'धर्म' शब्द का प्राथमिक प्रयोग नियमों के उस निकाय के लिये किया गया है, जो किसी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत मानव-जीवों के सम्बन्धों को विनियमित करती है। अतः समाज में सामाजिक नियंत्रण का कार्य धर्म के नियमों के इसी निकाय के संदर्भ में किया गया था। विधि, न्याय और न्यायिक प्रक्रिया का अनुपालन केवल तभी संभव है, जब नियमों का कोई निकाय (बाडी) हो, ताकि न्याय के प्रशासन में उन्हें लागू किया जा सके। धर्म (विधि) और न्याय के बीच का अन्तर और सम्बन्ध उस समय स्पष्ट हो जाता है, जब आज के आधुनिक समय में भी कोई न्यायाधीश अपने को इस स्थिति में पाता है कि उसके नैतिक निर्णय के अनुसार कोई विशेष विधान न्याय के विरुद्ध और कठोर है, परन्तु, चूँकि, उसने 'विधि के अनुसार' न्याय करने की शपथ ली है, इसलिये वह उसी न्याय के विरुद्ध और कठोर विधान को लागू करता है। ऐसा करने में उसने विधिक न्याय को लागू किया है। हम यह नहीं कह सकते कि उसने अन्यायपूर्ण रीति से कार्य किया है। न्यायाधीश के लिये तो वह न्यायपूर्ण है और उचित है कि वह उस विधान को लागू और मान्य करे, चाहे भले ही वह उस विधान का अनानुमोदन करता है। प्रश्नगत विधान के प्रति उसकी अनभिरुचि वैयक्तिक प्रकृति की है। विधि तो आवश्यक रूप से लोक प्रकृति की होती है। धर्म (विधि) का कोई विशेष नियम किसी एक व्यक्ति के प्रकरण में अनुचित या न्याय के विरुद्ध हो सकता है, परन्तु समाज के व्यापक हित में ऐसे नियम का पालन करना उचित और ठीक है। भगवान श्रीरामचन्द्र ने निर्दोष **सीता** के परित्याग का जो आदेश दिया था, वह **लक्ष्मण** को अनुचित और अन्यायपूर्ण लग रहा था, परन्तु उन्होंने उस आदेश का पालन किया था, क्योंकि वह एक राजकीय समादेश था। किसी विद्यमान विधि-व्यवस्था में न्याय के निकष विधि की नीति, समाज के लक्ष्य और सामाजिक व्यवस्था की सामाजिक राजनैतिक तथा आर्थिक नीतियों पर निर्भर करते हैं। न्यायकर्त्ता समाज की ओर से न्याय करता है। अतः यह कहना उचित और सही नहीं है कि न्याय एक वैयक्तिक सद्गुण (वर्चू) है, क्योंकि न्याय तो एक लोक सद्गुण है। जब न्यायिक

Scanned with CamScanner

प्रक्रिया इस अर्थबोध में कार्य करती है, तब वह सदैव विधि अर्थात् धर्म के नियमों के निकाय के संदर्भ में कार्य करती है।[90]

मनुस्मृति में, जो कि तथ्य और तत्त्व में समाजशास्त्रीय विधिशास्त्र का एक प्रबन्ध-ग्रन्थ है, धर्म के नियमों का सम्बन्ध विधि, न्याय और न्यायिक प्रक्रिया के आत्मदर्शन के साथ जोड़ा गया है, क्योंकि दार्शनिक विधान निर्माता **मनु** के समक्ष विधि और न्याय के उद्देश्य स्पष्ट थे। अपने विधिक दर्शन में मनु ने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का अनुचिन्तन किया था, जिसमें व्यक्तियों के हित और विभिन्न सामाजिक इकाइयों के हित को दोनों के लाभ के लिये एकमय हो जाना था। धर्म और न्याय के प्रति यह निकटतमता वेदान्त-दर्शन के शैल-संस्तर (बेड रॉक) पर टिकी हुई है। इस स्थिति का तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति से सम्बन्धित विधि को न केवल उस व्यक्ति की वैयक्तिकता को स्वयं उसके स्वतन्त्र विकास के माध्यम से सम्पूर्ण बनाना है, अपितु उसको और अन्य लोगों को भी उसी स्वतन्त्र विकास के माध्यम से सम्मान और सहायता देना है और उनसे सहायता लेना भी है। मनुस्मृति में वर्णाश्रम-व्यवस्था के माध्यम से प्रवर्तित न्यायिक प्रक्रिया में सामाजिक समष्टि के जीवन के साथ व्यक्ति के स्वयं अपने जीवन को एकमय बना देने की योजना समाविष्ट की गई है।[91]

वर्ण-व्यवस्था और कर्म की स्वतंत्रता - न्यायिक प्रक्रिया का दार्शनिक पक्ष

ऋत और **धर्म** की संकल्पनाओं के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय समाज में कतिपय विहित और निर्धारित प्रमापों और नियमों का पालन करके विधि, न्याय और न्यायिक प्रक्रिया के गन्तव्य को प्राप्त किया जा सकता था। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने उसी को सरल बनाने के लिये और उसको सुनिश्चित करने के लिये वर्णाश्रम व्यवस्था को लागू किया था। इस व्यवस्था की तुलना उस आदर्श समाज से की जा सकती है, जिसमें सम्पूर्ण समाज में विधि, न्याय और न्यायिक प्रक्रिया सुनिश्चित करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को वह कर्म समनुदिष्ट किया गया है, जिसे वह अपने ज्ञान तथा भौतिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार कर सकता

Scanned with CamScanner

है। प्राचीन भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था की यही विशेषता थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी वर्ण का सदस्य होता था और उस रूप में उसे विशेष कर्म और कर्त्तव्य अभिहस्तान्तरित किये जाते थे, परन्तु स्मृतियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के प्रति व्यक्तियों की प्रवृत्ति या रुझान को अनदेखा नहीं किया जाता था। इसका कारण यह था कि विधि, न्याय और न्यायिक-प्रक्रिया की संकल्पना का तात्पर्य केवल निर्बन्धन (रिस्ट्रिक्शन्स) नहीं समझा गया था, अपितु उसका तात्पर्य वह स्वतन्त्रता थी, जिसकी प्राप्ति तब तक संभव नहीं है, जब तक कि उसको सन्नियमों (नार्म्स) के माध्यम से विनियमित नहीं कर दिया जाता। प्राचीन भारतीय विधि संहिताओं में यह कर्म की स्वतंत्रता के रूप में समाविष्ट की गई थी और उसे **पुरुषार्थ** का नाम प्रदान किया गया था। **पुरुषार्थ** की संकल्पना का विवेचन किये बिना प्राचीन भारतीय न्याय और न्यायिक प्रक्रिया की संकल्पना को समझना कठिन है। वर्णाश्रम-व्यवस्था का अध्ययन यह प्रकट करता है कि वह विधि और न्याय का सामाजिक पक्ष था। विधि, न्याय और न्यायिक प्रक्रिया का वैयक्तिक पक्ष सहज और स्वाभाविक रूप से पुरुषार्थ की संकल्पना में व्याप्त है, जैसा कि उसे प्राचीन भारत के सामाजिक दर्शन में समझा गया था।[92]

ऋग्वेद के समय से ही (4500 ई0पू0)[93] भारतीय जीवन, सामाजिक संरचना और राजनैतिक विचारधारा पर प्रचण्ड आध्यात्मिकता अभिभावी थी। सत्य और अहिंसा की गाँधीवादी संकल्पना की जड़ें उसी परम्परा में सुदृढ़ और सशक्त हुई थीं। प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने सदैव अपनी शक्ति और ऊर्जा को मानव अस्तित्व की समस्याओं के निदान और उनकी खोज में समर्पित कर रखा था। उन्होंने जीवन के चार मुख्य लक्ष्य निर्धारित कर रखे थे, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के नाम से ज्ञात थे। इन लक्ष्यों के चूँकि अपने सामाजिक, विधिक, सामाजिक-आर्थिक और आध्यात्मिक पहलू थे, अतः वे अन्योन्याश्रयी और परस्पर सम्बन्धित होते थे। इनमें से प्रथम तीन की प्रकृति सामाजिक है और अन्तिम की प्रकृति वैयक्तिक है।[94]

Scanned with CamScanner

प्राचीन भारतीय विधि-संहिताओं मे ंराजा को विधान-निर्माण का प्राधिकार नहीं प्राप्त था। मनुस्मृति में यह घोषणा की गई है कि **रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानम् सृजात्प्रभुः,** अर्थात् इस जगत की रक्षा करने के लिये ईश्वर ने राजा का सृजन किया है।[95] इस उद्घोषणा द्वारा राजा पर जो कर्त्तव्य अधिरोपित किया गया था, उसका तात्पर्य यह था कि राजा को एक सुभिन्न भूमिका निभानी है। प्राचीन भारतीय न्याय-व्यवस्था में राजा को जिस सन्नियम के अधीन रखा गया था, वह **व्रत** के नाम से ज्ञात था, जो जनता के प्रति आचरण का द्योतक था।[96] इस जगत की रक्षा विधि, न्याय और न्यायिक प्रक्रिया द्वारा ही संभव है, अतः ऋषियों द्वारा स्थापित सन्नियमों के अधीन रहते हुये राजा को विधि, न्याय और न्यायिक प्रक्रिया का अनुरक्षण करना था। राजा को यह सुनिश्चित करना आवश्यक था कि क्या भारतीय विधिक दर्शन द्वारा विहित और निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में मानव समुदाय अग्रसर है अथवा नहीं और चार वर्णों और चार आश्रमों की व्यवस्था के अधीन रहते हुये क्या वह जीवन के चार लक्ष्यों, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की दिशा में काम कर रहा है अथवा नहीं। चार वर्णों, चार आश्रमों और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के इन चार पुरुषार्थों की व्यवस्था का आधार मूलतः विधि और न्याय-स्थापन की संकल्पना ही है, क्योंकि पुरुषार्थ अर्थात् कर्म की स्वतंत्रता प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी वृत्ति अथवा कारबार को चुनने की स्वतंत्रता प्रदान करता है।

प्राचीन भारतीय न्यायिक व्यवस्था प्रत्येक पुरुषार्थ को समान महत्त्व प्रदान करती है। जनवर्ग द्वारा किये गये समस्त कर्मों के समान महत्त्व थे और इस रूप में प्रत्येक पुरुषार्थ पारस्परिक रूप से एक दूसरे से अलग नहीं थे। मनुस्मृति का यह पाठ इस कथन को और भी अधिक स्पष्ट बना देता है, अर्थात् -

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म एव च।

अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितः।।[97]

Scanned with CamScanner

जिसका तात्पर्य है, "कुछ लोग **धर्म** और **अर्थ** को, कुछ लोग **काम** और **अर्थ** को, कुछ लोग केवल **धर्म** को अथवा केवल **अर्थ** को कल्याणकारी मानते हैं, किन्तु वास्तव में **धर्म, अर्थ** और **काम** ये तीनों ही कल्याणकारी हैं। यह पाठ यह स्पष्ट कर देता है कि **धर्म, अर्थ** और **काम** पारस्परिक रूप से एक दूसरे के अपवर्जक नहीं हैं। **मनु** द्वारा अनुचिन्तित सामाजिक व्यवस्था सामाजिक शक्तियों का उपोत्पाद (बाई-प्रोडक्ट) है। किसी भी प्रभावशाली सामाजिक व्यवस्था के लिये उसको शासित करने वाली न्याय-व्यवस्था के अतिरिक्त जो कुछ आवश्यक है, वह यह है कि धर्म, अर्थ और काम को आनुपातिक महत्त्व दिया जाय। **मनु** ने उस मत को अस्वीकार कर दिया है, जो धर्म, अर्थ और काम में से किसी एक को अथवा अन्य को अपवर्जित करने की बात करती है। **मनु** के अनुसार सही दृष्टिकोण यह है कि धर्म, अर्थ और काम ये तीनों समान रूप से किसी भी अच्छे जीवन के लिये महत्त्वपूर्ण हैं।

धर्म अथवा पुरुषार्थ उस जीवन-शैली से सम्बन्धित विचार पर अपने दृढ़विश्वास का प्रतिनिधित्त्व करता है, जो किसी व्यक्ति द्वारा लौकिक और आध्यात्मिक विकास के लिये अनुसरित किया जाता है। परन्तु धर्म मानव-जीवन के अन्य लक्ष्यों पर भारी नहीं पड़ सकता। धर्म का सम्मान एक तरफ तो जीवन में सद्गुणों की अभिवृद्धि करता है और दूसरी तरफ लोगों को वर्णाश्रम धर्म के अनुसरण की ओर उन्मुख करता है और इस तरह सामाजिक नियमों का परिपालन होता है, जो न्याय और न्यायिक-प्रक्रिया के अनुरक्षण के लिये आवश्यक है। समाज में शान्ति-स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि लोग न्याय और न्यायिक प्रक्रिया के नियमों के प्रति सम्मान की भावना रखें। इसीलिये, प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया में धर्म के नियमों को **अर्थ** और **काम** पुरुषार्थों का प्रतिपूरक बनाया गया था।[98]

वेदान्त-दर्शन में एक पुरुषार्थ के रूप में धर्म की बहुत अच्छी व्याख्या की गई है। यह विश्व से अपवित्रता या कलुषता के परिहार या परिवर्तन में और व्यक्ति द्वारा अपने को ऐसी समस्त बातों से अप्रभावित रहने में सन्निहित है, जो अनुचित या

Scanned with CamScanner

अशोभनीय है। एक पूर्ण मानव अपने लिये नहीं, अपितु मानव जाति के लिये जीता और मरता है। वह व्यक्ति जिसने अपने को पूर्णतया स्वार्थी भावना से मुक्त कर लिया है, इस जगत के कार्य में अपने को लगाने के लिये स्वतन्त्र है। ऐसे व्यक्ति की प्रवृत्ति इस जगत की सेवा करने की होनी चाहिये, न कि इसको प्राप्त करने की या इससे बच निकलने की।[99] एक पुरुषार्थ के रूप में धर्म की यही संकल्पना है और इस संकल्पना के अन्तर्गत समाज के प्रत्येक सदस्य के कल्याण की भावना सहज व्याप्त है। धर्म की इस न्यायिक प्रक्रिया के प्रति समर्पित जीवन में किसी तरह का संघर्ष अथवा विवाद संभव नहीं है।

एक पुरुषार्थ के रूप में धर्म का अभिप्राय न्याय-व्यवस्था से है और न्याय-व्यवस्था के अर्थबोध में इसका तात्पर्य न केवल श्रुतियों और स्मृतियों में प्रतिपादित नियमों की व्यवस्था का पालन करना है, अपितु उसका तात्पर्य अपनी स्वयं की प्रकृति अर्थात् मानवता, तर्कशीलता और आध्यात्मिकता के प्रति चेतनता है, जो कि मानव-व्यक्तित्व को समृद्धिशाली बनाती है। इन गुणों के अभाव में मानव व्यक्तित्व एक पशु-अस्तित्त्व बनकर रह जाता है। यह केवल धर्म के द्वारा ही संभव है कि व्यक्ति अपना जीवन सामाजिक समष्टि के जीवन के साथ समवेत और अपने को मानवता के विकास और उसको पूर्ण बनाने के लिये तैयार करने में समर्थ हो जाता है।[100]

डॉ0 एस0डी0 शर्मा ने **मनु** के अभिमत पर अपना निष्कर्ष व्यक्त करते हुये यह कहा है कि धर्म, अर्थ और काम तीनों मिलकर समग्र मानवता के कल्याण के लिये कार्य करते हैं। उन्होंने इस सत्य का भी प्रदर्शन किया है कि चौथा पुरुषार्थ **मोक्ष** विशुद्ध रूप से एक वैयक्तिक और आध्यात्मिक कर्म है और न्याय तथा न्यायिक प्रक्रिया से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। अतः उसे धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ से अलग रखा जाना चाहिये। मोक्ष की प्राप्ति किसी अन्य व्यक्ति के प्रयास अथवा योगदान से संभव नहीं है। इसकी प्राप्ति केवल वैयक्तिक प्रयासों से ही संभव है और

Scanned with CamScanner

यही कारण रहा है कि हमारे प्राचीन काल के ऋषियों ने इस जागतिक जीवन का त्याग करके वन्य अर्थात् एकान्त जीवन व्यतीत करना अधिक अच्छा समझा था।[101]

परन्तु धर्म पुरुषार्थ नैतिकता और विधि के सन्नियमों के अनुपालन में समाविष्ट है और उसके परिणामस्वरूप मानव जीवन समाज में जीने लायक बन जाता है। अतः धर्म की समृद्धि केवल समाज में संभव है। धर्म के नियम सामाजिक नियम होते हैं। **मीमांसा** में धर्म के नियमों और नैतिकता के नियमों के बीच अन्तर स्थापित किया गया है। धर्म के नियम बाध्यकारी और आज्ञावाचक प्रकृति के होते हैं, जबकि नैतिकता के नियम बाध्यकारी नहीं होते, अपितु सांस्तुतिक प्रकृति के होते हैं। एक पुरुषार्थ के रूप में **अर्थ** का तात्पर्य ऐसी किसी बात से है, जो किसी व्यक्ति द्वारा साधारणतया प्रसन्नता का पुरस्कार प्राप्त करने के लिये स्वीकार किया जाता है।[102]

पुरुषार्थ के अन्तर्गत व्यक्ति अपने हाथ में ऐसे कार्य लेता है, जिसे वह प्रसन्नता के लिये सहायक अथवा प्रेरक मानता है। प्रत्येक व्यक्ति की प्रसन्नता उसके अपने मनोवैज्ञानिक और भौतिक या शारीरिक निर्वर्तन पर निर्भर करता है। स्मृतियों में विभिन्न प्रकार की वृत्तियों और कारबारों को अपनाने की स्वतंत्रता प्रदान की गई है और समाज का कोई भी सदस्य अपनी शारीरिक और मानसिक क्षमता और योग्यता के अनुरूप उनका चुनाव कर सकता है। यदि वह ऐसा करता है, तो उसी के अनुसार उसके **वर्ण** या **जाति** का निर्माण होता है और चारों पुरुषार्थों का सम्बन्ध उसकी वृत्ति या कारबार से है। **एस0डी0 शर्मा** का अभिमत है कि स्मृतियों में ऐसे कार्यों को भी विधि-मान्यता प्रदान की गई है, जो दृढ़तर अर्थों में स्मृतियों के नियमों के अन्तर्गत किसी विशेष वर्ण या जाति के लिये विहित या निर्धारित नहीं किये हैं।[103] इस सम्बन्ध में धन-सम्पदा का अर्जन विचार-विमर्श का एक रोचक विषय रहा है। प्रश्न यह है कि क्या सम्पत्ति का अर्जन शास्त्रों की न्यायिक प्रक्रिया के अनुसार किया जाना चाहिये या संसार की प्रथा के अनुसार। **विज्ञानेश्वर** का अभिमत है कि यदि सम्पत्ति का अर्जन संसार की प्रथा के अनुसार किया जाता है, तो इससे उस सम्पत्ति पर स्वामित्त्व का

Scanned with CamScanner

अधिकार प्राप्त हो जाता है। सम्पत्ति का अर्जन मानव-जाति के लिये स्वाभाविक है और धन-सम्पदा का अर्जन शास्त्रों पर निर्भर नहीं करता। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति अर्जित हो जाने पर प्रत्येक व्यक्ति उस पर ध्यान दे सकता है और अपनी अर्जित सम्पत्ति को देखकर अर्जयिता को प्रसन्नता की अनुभूति होती है।[104]

यह स्पष्ट है कि यदि विभिन्न जातियों के लिये विहित धन-सम्पदा के अर्जन से सम्बन्धित नियमों का पालन नहीं किया जाता है, तो इसके कारण ऐसी जातियों में स्वत्त्वाधिकार का समुचित अर्जन प्रभावित नहीं होता, क्योंकि सम्पत्ति का ऐसा अर्जन संसार की प्रथा के अनुसार किया गया है। विधि-संहिताओं का यह उपबन्ध इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारतीय विधि-प्रदाता **जेरेमी बेन्थम** के इस आधुनिक सूत्र से अवगत थे, जो कि **बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय** (ग्रेटेस्ट हैप्पीनेस टू द ग्रेटेस्ट नम्बर) के रूप में प्रसिद्ध है। **जेरेमी बेन्थम** ने यह भी प्रतिपादित किया था कि "धन-सम्पदा के प्रत्येक अंश के साथ उतने ही अनुपात में प्रसन्नता जुड़ी हुई है।"[105] प्राचीन भारतीय विधानकार इस सिद्धान्त से अवगत न होते तो वे सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्त्व के सम्बन्ध में अत्यन्त उदार उपबन्धों का निर्माण न करते।

अर्थ अथवा सम्पत्ति का अर्जन मानव-जीवन की एक ऐसी घटना है, जो उसके व्यक्तित्त्व के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। इसी आर्थिक आत्म-निर्भरता के संदर्भ में **सर हेनरी समरमेन** ने यह अवलोकित किया था कि "प्रगतिशील समाजों की चेष्टायें यहाँ से हैसियत से संविदा की ओर उन्मुख हो गई थी।"[106] इस कथन में सत्यता के रहते हुये भी यह एक बात तो स्पष्ट ही है कि सामाजिक सम्बन्धों के बीच धन-सम्पदा एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है और उसी के अनुसार समाज में किसी व्यक्ति की स्थिति और हैसियत का निर्धारण होता है।

प्राचीन भारतीय विधानशास्त्रियों ने इसीलिये मानव व्यक्तित्व के आर्थिक पक्ष की ओर विशेष अभिरुचि उत्सृष्ट की है, क्योंकि यह आर्थिक पक्ष मानव जीवन का

Scanned with CamScanner

एक महत्त्वपूर्ण भाग है। यह आर्थिक पक्ष मानव-गरिमा अथवा अन्यथा का द्योतक है। "मानव-गरिमा का यह कह कर उत्सर्ग करने की अपेक्षा कि आप अपनी गरिमा मुझे दे दें, यह अधिक अच्छा है कि आप अपनी जिह्वा को तेज धार वाली तलवार से दो भागों में काट दें।"[107] भारतीय विधि-साहित्य में इस सम्बन्ध में सजीव विचार-विमर्श किया गया है कि क्या शास्त्रों द्वारा सम्पत्ति पर विशेष संकेत किया गया है और क्या उनमें मान्य रीतियों से ही स्वामित्त्व का अर्जन किया जा सकता है। **धारेश्वर** और **जीमूतवाहन** इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं कि शास्त्रों द्वारा सम्पत्ति की भावना को अनन्यतम रूप से इंगित किया गया है और शास्त्रों में विहित तरीकों से ही सम्पत्ति का स्वामित्त्व अर्जित किया जा सकता है। **विज्ञानेश्वर** और उनके अनुयायी इस दृष्टिकोण का अनुमोदन करते हैं कि सम्पत्ति का आधार लौकिक मान्यता है।[108] यहाँ **लौकिक मान्यता** का तात्पर्य प्रचलित प्रथाओं से है। इस विचार-विमर्श से यह आभास होता है कि प्राचीन भारतीय विधि-शास्त्रियों द्वारा सम्पत्ति की संकल्पना को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया गया था और उनके द्वारा उसको महत्त्व दिये जाने का कारण यह था कि सम्पत्ति का मानव अस्तित्त्व और उसकी स्वतंत्रता पर प्रभाव होता है। आज के आधुनिक युग में भी सम्पत्ति का अधिकार एक महत्त्वपूर्ण अधिकार है, क्योंकि यह मानव-गरिमा और स्वतंत्रता, जिसमें प्राण का अधिकार भी सम्मिलित है, जैसे विभिन्न पक्षों का निर्धारण करता है। प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया से सम्बन्धित विधिक दर्शन में इसलिये **अर्थ** पुरुषार्थ को जनवर्ग के लिये नियत किये गये मुख्य उद्देश्यों के बीच एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

मानव-जीवन का तीसरा पुरुषार्थ **काम** है, जिसका तात्पर्य अभिरुचि, कामना, इच्छा या हित है। किसी भी सामाजिक व्यवस्था का मुख्य प्रयोजन अपने सदस्यों को उन अवसरों को प्रदान करना है, जिनसे उनकी अभिरुचि, कामना, इच्छा या हित की तुष्टि होती हो। प्राचीन काल से लेकर आज तक की प्रत्येक न्यायिक प्रक्रिया व्यापक रूप से लोगों के परस्पर विरोधी हितों के बीच सन्तुलन स्थापित करने

Scanned with CamScanner

के कठिन कार्य में लगी हुई है। किसी भी न्यायिक प्रक्रिया की अच्छाइयों का आकलन उनकी उस सफलता के संदर्भ में किया जाता है, जो कि उसने परस्पर-विरोधी हितों के बीच अधिकतम सन्तुलन-स्थापन और न्यूनतम मतभेद स्थापित करने में प्राप्त किया है। आज के आधुनिक विधिशास्त्र का वह पक्ष, जो परस्पर-विरोधी हितों के बीच सन्तुलन स्थापन की अभियांत्रिकी का पक्ष समर्थन करता है, उतना प्रवर्धित और समुन्नत नहीं है, जितना वह प्राचीन भारतीय न्यायिक-प्रक्रिया और उसके दर्शन में था। प्राचीन भारतीय विधिक दर्शन में परस्पर विरोधी हितों का जो विनियमन किया गया था, उसमें अनैतिक प्रतियोगिताओं के फलने-फूलने और विकसित होने के लिये कोई भी अवसर उपलब्ध नहीं था और इसका कारण यह था कि व्यक्तियों का जनजीवन **वर्ण** और **आश्रम** पद्धति द्वारा पूर्णतया नियंत्रित कर दिया गया था। इस कथन में बहुत कम सत्यता है कि प्रतियोगिओं के बीच किसी भी प्रकार की वैमनस्य-भावना को उत्पन्न किये बिना वाणिज्यिक और औद्योगिक प्रतिद्वन्द्विता को कायम रखा जा सकता है।[109] प्रोफेसर **कूली** का अभिमत है कि "जब तक मैं अपने विरोधी में अपने ही जैसे एक मनुष्य को देखता हूँ, जो कि ऐसे निमित्तों और प्रयोजनों से कार्य कर रहा है, जिसे कि मैं अनुरूप और उचित के रूप में मान्य करता हूँ, मैं उसके ऊपर क्रोध नहीं कर सकता, चाहे भले ही वह मेरे साथ जो कुछ व्यवहार करे। खुले बाजार की स्थितियाँ ऋजुता से परिपूर्ण किसी युक्तियुक्त मनुष्य के मन में वैयक्तिक बैर भाव का संचार नहीं करती।[110]

प्रोफेसर **कूली** के अभिमत से **डॉ0 एस0डी0 शर्मा** और **आर्थर ओ0 लेबेज्वाय** सहमत नहीं हैं और वे यह कहते हैं कि प्रोफेसर **कूली** का उपर्युक्त चिन्तन उस प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं है, जो कि आजकल विभिन्न आर्थिक हेतुकों का प्रतिनिधित्त्व करने वाले सामान्य जनसमुदाय का है, उदाहरण के लिये श्रमिकों की प्रवृत्ति पूँजीपतियों के प्रति, काश्तकारों की प्रवृत्ति भूपतियों के प्रति, विचौलियों की प्रवृत्ति उत्पादकों के प्रति। ये लोग न केवल इस वस्तुस्थिति के प्रति चेतनशील हैं कि वे प्रतियोगिता में हैं, अपितु वे अब सभी लोगों के प्रति घोर सन्देह और क्रुद्ध भावना

Scanned with CamScanner

का प्रदर्शन करते हैं। हड़ताल, तालाबन्दी, बहिष्कार, विधान-निर्माण की योजनायें, धनियों से लेकर गरीबों को दे देने के स्पष्ट प्रयोजन, ऐसी योजनायें जब प्रयुक्त होने लगती हों, तब धनिक-वर्ग द्वारा 'समपहरण' की चीख आदि क्या इस बात के प्रमाण हैं कि समाज के विभिन्न वर्गों के बीच सौहार्द्र और सामंजस्य विद्यमान हैं।[111] इन दोनों विद्वानों के अभिकथनों में सत्यता का आभास होता है। हमारे आधुनिक विधान वास्तविक अर्थों में परस्पर-विरोधी हितों और कामनाओं के बीच सन्तुलन स्थापित करने में सफल नहीं हो सके हैं। परन्तु हमारी प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पुरुषार्थ के माध्यम से इसका अच्छी तरह विनियमन करती थी। प्राचीन भारतीय सामाजिक विधिक व्यवस्था और दर्शन ने ऐसी किसी भी अनैतिक प्रतियोगिता को जन्म लेने का अवसर ही नहीं छोड़ रखा था, क्योंकि आज के ठीक विपरीत उस समय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पर समान रूप से जोर दिया गया था। उस युग में ऐसी प्रतियोगिताओं को होने के लिये इसलिये भी अवसर नहीं प्राप्त था, क्योंकि विभिन्न वर्णों के लिये उनके जीवन के विभिन्न चरणों या आश्रमों में कठोर अनुशासन और प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई थी।

पुरुषार्थों का चतुर्थ पक्ष **मोक्ष** जीवन का ऐसा लक्ष्य निर्धारित करता था जो आवश्यक रूप से वैयक्तिक प्रकृति का था और वह किसी बात के प्रत्यक्ष साक्षात्कार या उसकी अनुभूति का एक ऐसा विषय है, जो स्मरण से परे अनादि काल से अस्तित्त्व में विद्यमान है और हमारी दृष्टि से परे है। मानव-जीवन के एक गंतव्य के रूप में मोक्ष की प्राप्ति केवल ऐसे व्यक्ति को हो सकती है, जिसने सदाचार के कर्म को पूरा कर लिया है। धर्म, अर्थ और काम - जीवन के तीन लक्ष्य - तो किसी मुमुक्ष के लिये असार, असत् और मायामय ही होते हैं। मोक्ष एक ऐसी अन्तर्दृष्टि है, जो इस जगत के रूप को परिवर्तित कर देती है और हर चीज को नूतन बना देती है।[112]

इस प्रकार, मोक्ष से जो कुछ भी प्राप्त होता है वह अन्तर्दृष्टि है, इस जगत को देखने का एक कोण है। इसकी प्राप्ति पर यथार्थ रूप से इस जगत का परिवर्तन

Scanned with CamScanner

नहीं होता, अपितु उसके प्रति मानव की प्रवृत्ति में परिवर्तन हो जाता है। **डॉ0 राधाकृष्णन** का अभिमत है कि "मोक्ष ऐसी किसी बात की प्रत्यक्ष अनुभूति है, जो चिरन्तन काल से विद्यमान है और जो हमारी दृष्टि से दिया हुआ है। यह वह शान्ति है, जो न तो यह संसार दे सकता है और न ही ले सकता है, यह सर्वोत्कृष्ट और परमानन्द है।"[113]

वर्ण-व्यवस्था की न्यायिक प्रक्रिया में कृत्वार्थ और पुरुषार्थ

पुरुषार्थ की प्राचीन भारतीय योजना के परिप्रेक्ष्य में उन उपबन्धों और व्यवस्थाओं पर भी विचार-विमर्श करना आवश्यक है, जो मनु की विधि-संहिता में विभिन्न वर्णों द्वारा अनुसरित वृत्तियों और कार्य-व्यापारों से सम्बन्धित है। **मनुस्मृति** के ये नियम इस बात को सन्देह से परे साबित कर देते हैं कि प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया में उपवृत्तियों के सन्दर्भ में कोई अनम्यता नहीं थी, जिसे किसी विशेष वर्ण के सदस्यों को अंगीकृत करना होता था। मनुस्मृति के साधिकार के अन्तर्गत विहित नियमों और व्यवस्थाओं का व्यतिक्रम अथवा विचलन साधारणतया अनुज्ञेय था और यह स्थिति यह इंगित करती है कि उस समय के समाज का वास्तविक व्यवहार क्या था। मनुस्मृति में ऐसी वृत्तियों और आजीविकाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिसे प्रत्येक **वर्ण** को अनुसरित करना था।[114] मनुस्मृति के इन नियमों में यद्यपि यह व्यवस्था की गई है कि किसी एक विशेष वर्ण को किसी विनिर्दिष्ट वृत्ति या आजीविका का ही अनुसरण करना होगा, फिर भी, उसमें ऐसी भी व्यवस्थायें हैं कि कोई भी वर्ण उस वृत्ति या आजीविका में लग सकता है, जो उसके लिये विहित नहीं है। इसका यह तात्पर्य था कि मनुस्मृति के नियमों में पुरुषार्थ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से संव्यवहार किया गया है, कृत्वार्थ से नहीं।

प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया की संकल्पना **कृत्वार्थ** और **पुरुषार्थ** में विभाजित है। **पुरुषार्थ** वह है, जो प्रसन्नता के पुरस्कार को दृष्टि में रखकर सामान्यतया मनुष्य द्वारा किया जाता है, जबकि **कृत्वार्थ** वह है, जो **पुरुषार्थ** की परिपूर्ति में सहायक होता है, परन्तु स्वयं कोई पुरस्कार उसके कर्त्ता को उपलब्ध नहीं

Scanned with CamScanner

कराता।[115] **मनु** के अनुसार एक ब्राह्मण यज्ञ कराकर, अध्यापन द्वारा और दान लेकर धन-सम्पदा का अर्जन कर सकता है।[116] इसी प्रकार, एक क्षत्रिय को अस्त्र-शस्त्र धारण करके और एक वैश्य को पशुपालन, खेती और व्यापार के द्वारा अपनी जीविका चलानी होगी।[117] ये नियम जो कि किसी विशेष वर्ण को किसी विशेष वृत्ति को हाथ में लेने की व्यवस्था करते हैं, पुरुषार्थ प्रकृति के हैं, कृत्वार्थ प्रकृति के नहीं। यदि धन-सम्पदा का अर्जन कृत्वार्थ प्रकृति का है और यदि कोई व्यक्ति किसी-किसी ऐसी साधन से धन-सम्पदा का अर्जन करता है, जो कि शास्त्र द्वारा मान्य नहीं है और ऐसे धन-सम्पदा से यज्ञ करता है, तो वह यज्ञ स्वयं अपने आप में विकृत होगा और आकांक्षित पुरस्कार प्रतिदान या प्रतिफल नहीं प्रदान कर सकेगा। परन्तु यदि धन-सम्पदा का अर्जन ही पुरुषार्थ है, तो उसका अर्जन चाहे जिस साधन से किया गया हो, उसके द्वारा सम्पन्न किया गया यज्ञ निष्फल नहीं होता। अतः धन-सम्पदा पुरुषार्थ है और उसके द्वारा जो भी यज्ञ कराये जाते हैं, वे भी पुरुषार्थ होते हैं।[118] इस प्रकार, धर्मशास्त्र के वे नियम, जो विभिन्न वर्णों के लिये विभिन्न वृत्तियाँ विहित करते हैं, बाध्यकारी प्रकृति के नियम नहीं हैं, अतः ऐसे नियमों को विधिक प्रकृति के नियमों की संज्ञा नहीं दी जा सकती। ये नियम केवल यह इंगित करते हैं और यह सही भी है कि किसी वृत्ति में प्रवेश करने के लिये या उसका अनुसरण करने के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति उस वृत्ति को हाथ में लेने के लिये आवश्यक ज्ञान से अपने को सुसज्जित करे। इसीलिये प्राचीन भारत में किसी भी वृत्ति को अपनाने की व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता थी, परन्तु इस स्वतंत्रता के साथ-साथ ऐसे व्यक्ति का यह कर्त्तव्य था कि पहले वह उस वृत्ति के लिये आवश्यक अर्हताओं से अपने को सुसज्जित करे और फिर उसके बाद वह उस वृत्ति को अपनाये। मनुस्मृति में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिया गया है, जिसका अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया में प्रत्येक व्यक्ति को कर्म की स्वतंत्रता थी।[119]

Scanned with CamScanner

प्रत्येक विधि-सिद्धान्त का केन्द्र व्यक्ति होता है। अतः प्राचीन भारतीय विधि-संहिताओं में भी यही प्रयास रहा है कि मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास का और उसको पूर्ण बनाने का पर्याप्त अवसर मिलना चाहिये, ताकि वह आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त कर सके। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया की संकल्पना के समाज को **चार वर्णों** में विभाजित किया गया था। इस सामाजिक यांत्रिकी की युक्ति इसलिये अपनाई गई थी, ताकि सामूहिक जीवन की राजनैतिक और आर्थिक अपेक्षाओं को पूरा किया जा सके। इसीलिये प्राचीन भारतीय विधि-प्रदाताओं ने समाज के प्रत्येक सदस्य के लिये उसकी क्षमता और अपेक्षाओं के अनुरूप अनुशासन अथवा धर्म के कतिपय नियम विहित कर रखे थे।[120]

आज के आधुनिक युग में **धर्म** और **मोक्ष** को उत्सर्ग पर चढ़ाकर **काम** और **अर्थ** को प्राप्त करने का व्यापक प्रयास किया जा रहा है। आज राष्ट्र की सम्पूर्ण सामाजिक विधि-व्यवस्था केवल **काम** और **अर्थ** को विनियमित करने पर लगी हुई है और इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है कि उसकी पद्धति क्या है और सामाजिक जीवन पर उसका क्या प्रभाव पड़ रहा है।[121]

किसी राष्ट्र की न्यायिक प्रक्रिया और उसकी विधि-व्यवस्था उस राष्ट्र के लोगों की सांस्कृतिक महत्त्वाकांक्षा का प्रतिबिम्ब होती है, परन्तु ऐतिहासिक और राजनैतिक कारणों से भारत की आज की न्यायिक प्रक्रिया और उसकी विधि-व्यवस्था का आधार वह संस्कृति है, जो विदेशी है। आज का भारतीय विधिशास्त्र बिना किसी आधार का है, क्योंकि उसकी जड़ें इंगलिश देशज-विधिशास्त्र में समाई हुई हैं। प्राचीन भारतीय विधि-संहिताओं में जो चार पुरुषार्थ अन्वेषित किये गये हैं, वे हमारी आज की न्यायिक-प्रक्रिया और विधि-व्यवस्था के आधार बन सकते हैं और उनसे विधि को निर्देश प्राप्त हो सकता है। समता, स्वतन्त्रता और सबके लिये समान न्याय का सिद्धान्त हमारे प्राचीन भारतीय विधिक सिद्धान्त के मूल लक्षण हैं और इनके प्रवर्तन से सभी को सुख और शान्ति मिल सकती है।

*****

Scanned with CamScanner

संदर्भ सूची

1 सन् 1906 ई0 में भारत की इतनी ही जनसंख्या रही होगी।

2 एम0 ब्लूमफील्ड, द रेलिजन आफ द वेद, (1972) 5.

3 स्वामी विवेकानन्द : कास्ट, कल्चर ऐण्ड सोशलिज्म, (1947) पृष्ठ 19, देखें, के0 मोतवानी : मनु धर्मशास्त्र, (1958), पृष्ठ 333.

4 देखें, डॉ0 एस0डी0 शर्मा, ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जस्टिस इन ऐन्सियण्ट इण्डिया, (1988) पृष्ठ 66.

5 देखें, डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी : प्राचीन भारतीय विधि-व्यवस्था : मनुस्मृति के विशेष संदर्भ में, (1995) पृष्ठ 107.

6 पी0वी0 काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड 'चार' (1974) पृष्ठ 19; देखें, आर0पी0 काँगले, द कौटिल्य अर्थशास्त्र, भाग 3, ए स्टडी (1965) चैप्टर 6, "सोसाइटी ऐण्ड सोशल लाइफ" पृष्ठ 143; इरावती कर्वे, हिन्दू सोसाइटी : ऐन इण्टरप्रिटेशन (1963), चैप्टर 3, "कास्ट-ए हिस्टोरिकल सर्वे", पृ0 49; डॉ0 श्रद्धाकर सुपकार, लॉ ऑफ प्रोसीजर ऐण्ड जस्टिस इन ऐन्सियण्ट इण्डिया, 1986, चैप्टर 2, "सोशल सिस्टम" पृष्ठ 65.

7 देखें, डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 67.

8 देखें, न्यायमूर्ति एस0 रत्नावेल पाँडियन, इन्द्रा साहनी बनाम भारत संघ, (1992) सप्लीमेण्टरी सुप्रीम कोर्ट केसेज, 217.

9 देखें, 'द कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द', खण्ड 'पाँच', पृष्ठ 29.

10 देखें, डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी, तत्रैव, पृष्ठ 108.

11 देखें, न्यायमूर्ति एस0 रत्नावेल पाँडियन, तत्रैव, पृष्ठ 365.

12 डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी, तत्रैव, पृष्ठ 108-109.

13 देखें, ऋग्वेद, 8:4-19.

14 मनुस्मृति, 1:31.

Scanned with CamScanner

15 देखें, श्रीमद्भगवद्गीता, 4:13.

16 देखें, डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी, तत्रैव, पृष्ठ 110.

17 दिशाओं के नियंत्रक देवताओं को ''वसु'' या ''दिकपाल'' कहा गया है।

18 सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के देवताओं को ''विश्वेदेवा'' कहा गया है।

19 देखें, डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी, तत्रैव, पृष्ठ 110; पी0वी0 काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड 2, (1972), पृष्ठ 42.

20 वृहदारण्याकोपनिषद, 1:4, 11,12,13.

21 याज्ञवल्क्य स्मृति, 1:16.

22 मनुस्मृति, 10:63, 64,65.

23 देखें, पातञ्जलि महाभाष्य, 2:2-6.

24 देखें; मनुस्मृति, 10:73.

25 देखें, पी0वी0 काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड 2(1974), पृष्ठ 44.

26 देखें, तत्रैव, पृष्ठ 100.

27 देखें, मनुस्मृति, 10:43-45; महाभारत, अनुशासन पर्व, 33:21-23 और 35:17-18; डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 70.

28 देखें, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड 2, भाग 1; इरावती कर्वे, हिन्दू सोसाइटी, ऐन इण्टरप्रिटेशन, (1968), आर0पी0 काँगले, द कौटिल्य अर्थशास्त्र, भाग 3, ए स्टडी (1965), डॉ0 श्रद्धाकर सुपकार, ला ऑफ प्रोसीजर ऐण्ड जस्टिस इन ऐन्सियण्ट इण्डिया, (1986).

29 देखें, डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 71.

30 देखें, तत्रैव, पृष्ठ 103; स्कन्द पुराण का सह्याद्रि खण्ड, उत्तरार्द्ध, 10:2-3

31 देखें, डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 72.

32 एम0वी0 पटवर्धन, मनुस्मृति, (1968) पृष्ठ 5.

33 देखें, डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 73.

Scanned with CamScanner

34 देखें, मनुस्मृति, 9:107.

35 गौतम, 2:35.

36 बौधायन, 2:6.

37 मनुस्मृति, 3:77-78.

38 देखें, के0 मोटवानी, मनु धर्मशास्त्र (1958) पृष्ठ 133.

39 देखें, डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी, तत्रैव, पृष्ठ 119.

40 डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 75.

41 देखें, श्रद्धाकर सुपकार, तत्रैव, पृष्ठ 95.

42 देखें, तत्रैव, पृष्ठ 95.

43 देखें, डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी, तत्रैव, पृष्ठ 120.

44 स्वामी विवेकानन्द, "कास्ट, कल्चर एण्ड सोशलिज्म" (1947), पृष्ठ 4-5.

45 (1992) 3 सप्लीमेण्टरी, सुप्रीम कोर्ट केसेज, 217, पृष्ठ 632.

46 देखें, इन्द्रा साहनी बनाम भारत संघ, (1992) 3 सप्लीमेण्टरी सुप्रीम कोर्ट केसेज, 217 पृष्ठ 471; हेरोल्ड ए0 गाउल्ड, द हिन्दू कास्ट सिस्टम।

47 देखें, इन्द्रा साहनी बनाम भारत संघ, तत्रैव, पृष्ठ 503.

48 देखें, तत्रैव, पृष्ठ 472.

49 डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 76.

50 डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन, द हिन्दू विव ऑफ लाइफ, (1968) 67-70, 75.

51 देखें, डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 78.

52 तत्श्रेयो रुपमत्यसृजत क्षत्रम, वृहद्उपनिषद, 1:4, 11.

53 वृहद् उपनिषद, 1:4, 11.

54 वृहदारण्यकोपनिषद, 1:4, 11 पर शंकराचार्य की टीका (गीता-प्रेस, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 288-289).

Scanned with CamScanner

55 देखें, एफ0 बेरोलझेइमर, द वर्ल्ड्स लीगल फिलास्फीज़, (1968), 101-102.

56 देखें, डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 80.

57 तत्रैव, पृष्ठ 80.

58 "द ओनली राइट व्हिच एनी मैन कैसे पसेज इज द राइट आलवेज टू डू हिज ड्यूटी; सिस्टमडे, पॉलिटिक पाजिटिव, 361; डब्ल्यु0 फ्रीडमैन की पुस्तक "लीगल थियरी" (1967) में पृष्ठ 232 पर उद्धृत।

59 देखें, मनु0., 3:80-82

60 देखें, मनु0, 1:86

61 देखें, वाल्मीकि रामायण, उत्तर काण्ड, अध्याय 45.

62 देखें, मनु0, 4:226.

63 देखें, मनु0, 4:227-234.

64 देखें, डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी, तत्रैव पृष्ठ 125; डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 92.

65 देखें, डॉ0 देवहुती, हर्ष (1970).

66 देखें, डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 92.

67 दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोषस्य च संप्रविद्धिः।
अपक्षयातोर्थिषु राष्ट्र रक्षा पंचेव यज्ञाः कथिता नृपाणाम।। अत्रि संहिता, 28; देखें, नारद प्रकीर्णक 33; विष्णु धर्मोत्तर, 3:323; पी0वी0 काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र (1973) खण्ड 3, अध्याय 3, पृष्ठ 57; डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव पृष्ठ 94; डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी, तत्रैव, पृष्ठ 126.

68 देखें, मनु : 8 : 1.3.

69 देखें, पी0वी0 काणे, तत्रैव, अध्याय-11; डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी, तत्रैव, पृष्ठ 126.

Scanned with CamScanner

70 मानसोल्लास, अध्याय 20, पाठ 1243; देखें, पी0वी0 काणे, तत्रैव, पृष्ठ 242.

71 कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे, 1:19, 34.

72 मिताक्षरा, अध्याय 2:1.

73 मेधातिथि, मनुभाष्य, अध्याय 8:1.

74 याज्ञवल्क्य स्मृति, अध्याय 1 : 359-360.

75 मनु0 8 : 127-128.

76 विष्णुस्मृति, 19 : 40-43.

77 वृद्धहरितस्मृति, 8 : 194.

78 रामायण, 7 : 53-54; शुक्रनीतिसार, 4: 5.8; पी0वी0 काणे, तत्रैव, पृष्ठ 243.

79 मनु0 8:41; वुहल्लर, लॉज ऑफ मनु, 8:41; पी0वी0 काणे, खण्ड 1, भाग 4, अध्याय 1.

80 देखें : डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी, तत्रैव, पृष्ठ 127-128.

81 मनु0, 8:15.

82 मनु0, 8:16.

83 मनु0, 8:17.

84 मनु0, 8:12-13.

85 मनु0, 7:2

86 मनु0, 7:30

87 देखें, मनु0, 8:4.7

88 देखें, मनु0, 8:8

89 मनु0, 1:1-2

90 देखें, डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 100-101.

Scanned with CamScanner

91 देखें, डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी, तत्रैव पृष्ठ 129.

92 देखें, तत्रैव, पृष्ठ 130.

93 बाल गंगाधर तिलक के अनुसार, देखें, डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव पृष्ठ 104.

94 डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 104.

95 मनु0, 7:3.

96 देखें, स्वामी विवेकानन्द, कास्ट, कल्चर ऐण्ड सोशलिज्म (1947), पृष्ठ 10.

97 मनु0, 2:224.

98 डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 110.

99 डॉ0 एस0 राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासॅफी, खण्ड 2 (1962) 633.

100 डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी, तत्रैव, पृष्ठ 132.

101 डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 111.

102 पी0वी0 काणे, तत्रैव, खण्ड 5, पृष्ठ 1232 (1977).

103 डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 112.

104 देखें, इन्ट्रोडक्शन टु याज्ञवल्क्य, 2:114; पी0वी0 काणे, तत्रैव, खण्ड 5 (1977) 1233, पी0एन0 सेन, जनरल प्रिन्सिपुल्स ऑफ हिन्दू जूरिसप्रूडेन्स (1984) 42; डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव पृष्ठ 112 पर उद्धृत।

105 अंग्रेजी में यह इस प्रकार है : "फार ईच पोर्शन ऑफ वेल्थ देयर इज ए करेसपान्डिंग पोर्शन ऑफ हैपीनेस", देखें, जे0 बेन्थम, द थियरी ऑफ लेजिशलेशन (1975), 64.

106 एच0 मेन, ऐन्सियण्ट ला, (1965), 100; डब्ल्यु0 फ्रीडमैन, लीगल थियरी, (1967) 216, डॉ0 विजय नारायण मणि त्रिपाठी, विधि-शास्त्र एवं विधिक-सिद्धान्त, (1993) पृष्ठ 29.

Scanned with CamScanner

107 असिना तीक्ष्ण धारेन वरम् जिह्वा द्विधाकृता।
न तु मानम् परित्यज्य देहि देहीति भाषितम्।। श्रीमद्देवीभागवत्, 7:21-22.

108 देखें, पी0एन0 सेन, जनरल प्रिन्सिपुल्स ऑफ हिन्दू जूरिस्प्रूडेन्स, (1984) 42.

109 आर्थर ओ0 लोकेज्वाय, रेशनल बेसिस ऑफ लीगल इन्स्टीट्युशन्स (1969) 55.

110 कूली, परसनल कम्पटीशन, (1899) 148-49; डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 114 से उद्धृत।

111 डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 115; आर्थर ओ0 लेबोज्वाय, तत्रैव, पृष्ठ 55-56.

112 डॉ0 एस0 राधाकृष्णन, इण्डियन फिलॉसफी, खण्ड 2 (1962) 637.

113 देखें, तत्रैव, पृष्ठ 636.

114 देखें, मनुस्मृति, 10:75-129.

115 देखें, पी0वी0 काणे, तत्रैव, खण्ड 5 (1977) 232.

116 देखें, मनुस्मृति, 10:76.

117 देखें, मनुस्मृति, 10:79.

118 देखें, पी0वी0 काणे, तत्रैव, पृष्ठ 1233.

119 देखें, मनुस्मृति, 10:75-129.

120 डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 118-121

121 देखें, तत्रैव, पृष्ठ 121.

*****

Scanned with CamScanner